जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 6 • जून, 2005

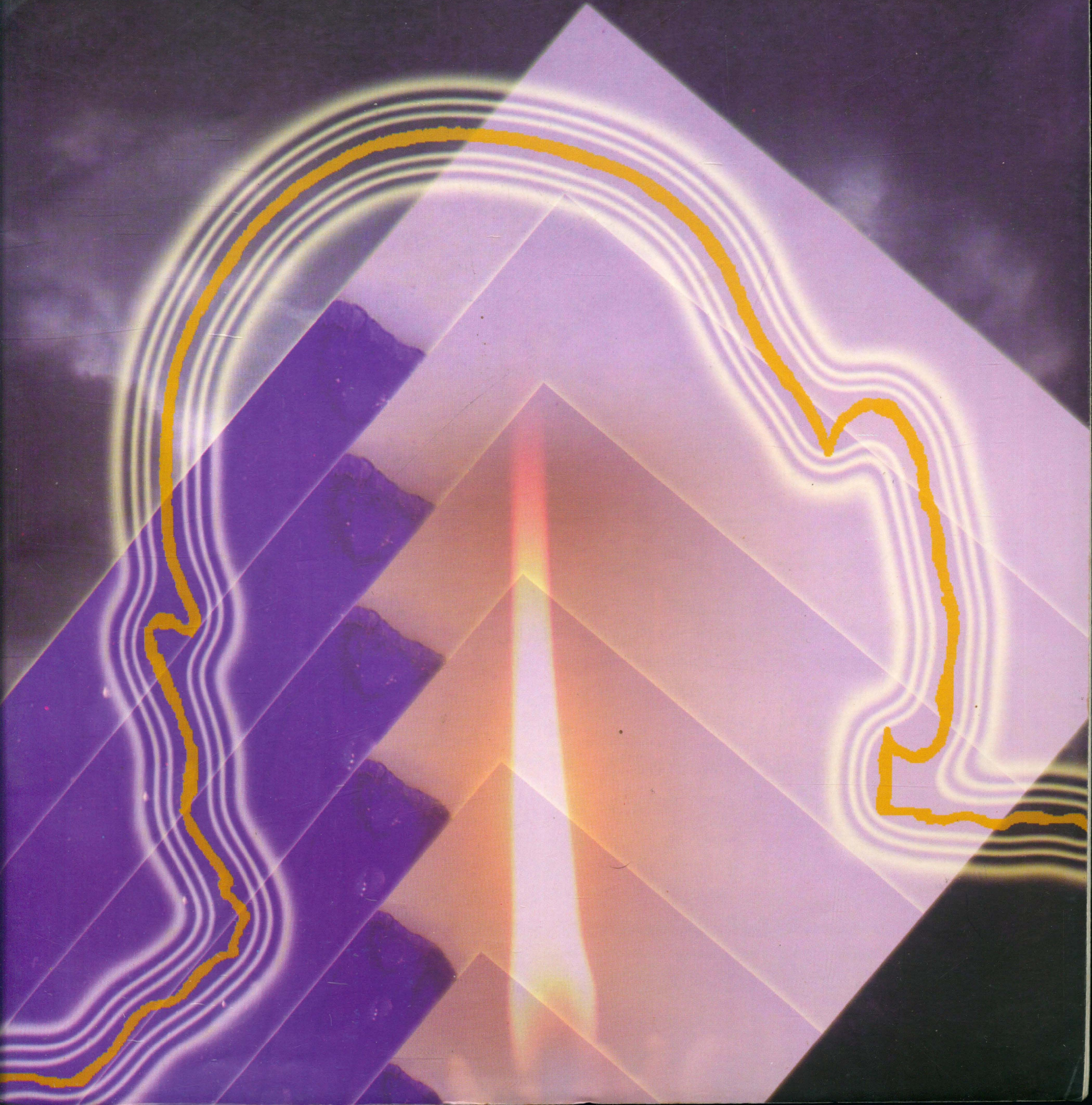

With best compliments from :

शुद्धता और स्वाद का बेहतरीन मिश्रण

अब आ गया अंकुर ट्रिपल रिफाईन्ड आयोडाइज़्ड नमक

- विश्वस्तरीय स्विस तकनीकी से सीधे आप तक पहुंचे
- संतुलित और पौष्टिक आहार के लिए सही चुनाव
- शुद्धता और स्वाद का बेहतरीन मेल
- देश के सबसे बड़े प्लांट से निर्मित
- उच्चतम शुद्धता का वादा

डीलरशीप के लिए संपर्क करें :

ANKUR CHEMFOOD PRODUCTS (GUJ.) LTD.

P.O. Box No. 9, Plot No. 355, Ward 12-B, Tagore Road
Gandhidham (Kutch) 370201, India

Phone : 91-2836-220957, 222434 Fax : 91-2836-233686 Mob. : 91-9879520957
E-MAIL : info@ankurfoods.com / ankurltd@wilnetonline.net WEB-SITE : www.ankurfoods.com

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • जून, 2005 • अंक 6

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अणुव्रत के सूत्र और क्रियात्मक क्रांति

14
समणी सत्यप्रज्ञा
सूक्ष्म तथा पराचेतन अस्तित्व

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

19
आचार्यश्री तुलसी
राष्ट्रनिर्माण और धर्म

24
चतरसिंह मेहता
अप्पा अप्पम्मि रओ

29
निहालचंद जैन
शाकाहार से सधेगा पर्यावरण

34
मुनि मदनकुमार
कीजै तेहिज काज

37
साध्वी अशोकश्री
एक अमाप्य व्यक्तित्व

39
कहानी
श्रीनरेश मेहता
आमी जे जलसाघरे

44
कविता
हरीश भादानी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
नाणस्स सारमायारो

शीलन

47
सुरेश जैन
जैन सिद्धांत और पर्यावरण

50
मुनि दुलहराज
प्रसिद्धि : एषणा और मर्यादा

52
बालकथा
वंदना जोशी
डॉक्टर दादा

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

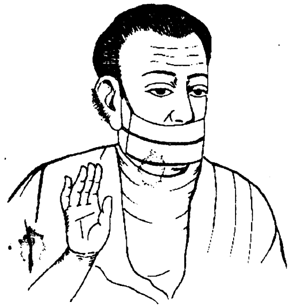

यह सच्चा है या झूठा?

'भगवान महावीर में जब छहों लेश्याएं थीं और आठों ही कर्म थे, तब उस छद्मस्थ अवस्था में भगवान ने लब्धि का प्रयोग किया।' इस प्रमाद को मूर्ख व्यक्ति धर्म बतलाते हैं।

स्वामीजी ने जब इस गाथा की रचना की तो भारमलजी स्वामी ने कहा—'छद्मस्थ चूका तिण समे'—इस पद को आप बदल दें। इस पद को लेकर लोग झगड़ा कर सकते हैं।

तब स्वामीजी बोले—यह पद सच्चा है या झूठा?

तब भारमलजी स्वामी बोले—है तो सच्चा।

तब स्वामीजी बोले—यदि यह सच्चा है तो फिर लोगों की क्या चिंता! न्याय-मार्ग पर चलने में कोई आपत्ति नहीं है।

बीच में बोलने की जरूरत ही क्या?

संवत 1853 की घटना है। स्वामीजी ने सोजत में चातुर्मास किया। उसके बाद विहार करते-करते मांढ़ा में पधारे।

हेमजी स्वामी तब गृहस्थावस्था में थे। स्वामीजी के दर्शन करने सिरियारी से मांढा गांव में आए। पोल के चबूतरे पर स्वामीजी सो रहे थे और नीचे खाट डाल कर हेमजी स्वामी सो गए। उस समय स्वामीजी और साधु परस्पर साधु-साध्वियों को विभिन्न क्षेत्रों में भेजने की बात कर रहे थे—अमुक साधु को अमुक गांव भेजना और अमुक साधु को अमुक गांव भेजना। परंतु सिरियारी में किसी साधु या साध्वी को भेजने की बात नहीं की।

तब हेमजी स्वामी बोले—स्वामीनाथ! सिरियारी में किसी साधु-साध्वी को भेजने की बात ही नहीं की?

तब स्वामीजी ने उन्हें कठोर शब्दों में उलाहना दिया। आपने साधुओं से कहा—गृहस्थों के सुनते हुए ऐसी बात ही नहीं करनी चाहिए। हेमजी स्वामी की ओर अभिमुख होकर कहा—तुम्हें साधुओं की बातचीत के बीच में बोलने की जरूरत ही क्या? यह बात हेमजी स्वामी को बहुत कड़ी लगी। वे मौन साध कर सोते रहे।

मनुष्य अच्छा या बुरा जो-कुछ करता है वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव, वैसी अभिव्यक्ति—यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है, तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रकृति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है। इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ? और न बदलने में क्या नुकसान है? लाभ-नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

बदलाव की प्रक्रिया जटिल हो सकती है, पर वह असंभव नहीं है। जो व्यक्ति बदलना चाहता है उसके लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम निर्धारित है। उसकी क्रियान्विति के लिए एक कार्यशाला आवश्यक है। वह 'वर्कशॉप' किसी सभागार में नहीं होगा। उसके लिए भावों की दुनिया में प्रवेश करना होगा। उसके पांच अंग हैं—आस्था, आशा, आत्म-विश्वास, इच्छा-शक्ति, अनुप्रेक्षा अभ्यास।

—आचार्य तुलसी

व्यक्ति के भावों की दुनिया बहुरंगी और बहुविध रूपों वाली है। कभी क्षमा व शांति का भाव प्रबल बनता है तो कभी क्रोध और अशांति की तरंगें उछलने लगती हैं। कभी लोभ की तरंग उठती है तो कभी संतोष का भाव जागता है। ऐसी स्थिति में जो जागरूक होता है तथा जिसका दृष्टिकोण विधायक होता है, वह ज्यादा-से-ज्यादा सकारात्मक भावों में रहने का प्रयास करेगा।

आज शिक्षा के द्वारा बौद्धिक विकास हो रहा है, भावात्मक विकास नहीं हो रहा है। जब तक भावात्मक विकास नहीं होगा, तब तक सुख, शांति एवं सफलता का जीवन नहीं जीया जा सकता। जीवन-विज्ञान भावात्मक विकास की प्रयोग पद्धति है।

विकास की एक बाधा है—अज्ञान। अज्ञान के दो रूप हैं। अज्ञान का एक रूप ज्ञान के अभाव को दर्शाता है तो उसका दूसरा रूप व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर करता है। ज्ञान तो है, पर व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या है, तो ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाएगा।

ज्ञान आभ्यंतर प्रकाश है। ज्ञान के द्वारा हेय और उपादेय की भेदरेखा का बोध होता है। जिसके पास ज्ञान का आलोक है, वह कभी भी गुमराह नहीं होता।

—युवाचार्य महाश्रमण

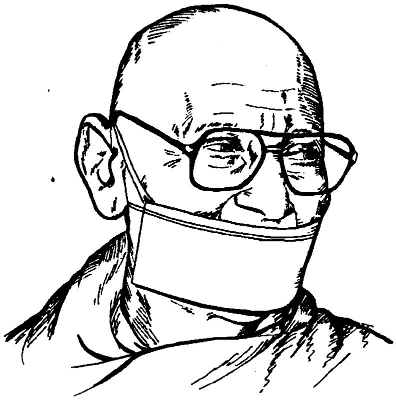

यह अपेक्षा की जाती है कि आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण हो। यह केवल युगीन अपेक्षा ही नहीं है, समाज की शाश्वत अपेक्षा भी है। दो प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—भौतिक व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यक्तित्व। भौतिक व्यक्तित्व की जो रेखाएं खींची जाती हैं, उनमें अहंकार और ममकार की संभावना निहित है। जिस व्यक्तित्व का निर्माण सचाइयों के आधार पर होता है, काल्पनिक रेखाओं के आधार पर नहीं होता, वह आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है।

समाज में सबसे बड़ा प्रश्न है संबंधों का। व्यक्ति अकेला नहीं है। वह समाज का जीवन जी रहा है। सामाजिक जीवन का अर्थ है—संबंधों का जीवन, पदार्थ के साथ, परिवार, गांव और राष्ट्र के साथ संबंध। इन संबंधों की पूरी श्रृंखला है। सामाजिक प्राणी इस श्रृंखला से बंधा हुआ है। आध्यात्मिक व्यक्ति भी संबंधों को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। जब तक जीवन-यात्रा चलती है, तब तक संबंध भी बने रहते हैं। संबंधों का जीवन आध्यात्मिक व्यक्ति को भी जीना पड़ता है, पर दोनों के जीवन में बड़ा अंतर होता है। भौतिक व्यक्ति अहंकार और ममकार के साथ संबंध जोड़ता है। उसका कोई भी संबंध ऐसा नहीं होता, जिसकी पृष्ठभूमि में अहंकार नहीं बोलता हो या ममकार की परछाईं न हो। दोनों होते हैं। 'मैं हूं'—यह अपने अस्तित्व की अनुभूति है—अहं अस्मि—'मैं हूं।' 'मैं हूं' का अर्थ हो जाता है—'मैं धनवान हूं', 'मैं शासक हूं', 'मैं शक्तिशाली हूं' आदि-आदि।

अस्तित्व-बोध का अहं जितना खतरा पैदा नहीं करता, दूसरे अहं बहुत बड़े खतरे पैदा कर देते हैं। अहं व्यक्ति को बांट देता है। यह छोटा है, मैं बड़ा हूं। यह नौकर है इसलिए छोटा है, मैं मालिक हूं इसलिए बड़ा हूं। मैं कुलीन हूं, यह कुलीन नहीं है। मैं स्पृश्य हूं, यह अस्पृश्य है। ये सारी भेदरेखाएं अहंकार के आधार पर खिंची हुई हैं। पूरा समाज इन रेखाओं से भरा पड़ा है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

नाणस्स सारमायारो

आचार ही ज्ञान का सार है—यह निर्विवाद है। यदि हमारे आचार-व्यवहार में उसकी झलक नजर न आए तो कहा जाना चाहिए कि वह ज्ञान एक प्रकार से बोझ है। जिन हालातों में हम जी रहे हैं—क्या आज यही नहीं लग रहा? जो-कुछ हम जानते हैं, हमारा आचरण उसके अनुरूप नहीं है। इसीलिए हमारा पर्यावरण और परिवेशिकी अथवा पारिस्थितिकी दूषित हो रहे हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ भौतिक विकास की ऊंची मीनारें तो अवश्य खड़ी हुई हैं, लेकिन हमें यह मानना होगा कि प्राणी जगत पर इस विकास की जटिलताओं ने प्रतिकूल असर छोड़ा है। आम-जीवन से लेकर सामुदायिक जीवन-चक्र पीड़ित और प्रताड़ित है, तो दूसरी ओर समूचा जैव-मंडल भी इसकी चपेट में है। शास्त्र की यह बात—'नाणस्स सारमायारो'—वर्तमान में तो शास्त्र में ही प्रकट होती नजर आ रही है, हमारे जीवन-व्यवहार में नहीं। ज्ञान का सार आचार है, पर हमारे आचार में वह प्रतिबिंबित नहीं हो रहा।

ऐसा क्यों है? अब यह स्पष्ट है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ दर्शन की समन्विति का आग्रह इसीलिए है। इनकी समन्विति के बिना कोई ज्ञान आचार में प्रतिबिंबित हो नहीं सकता। इनकी समन्विति की आवश्यकता को स्वीकारते हुए प्रमुख विद्वान डॉ. गोविंदचंद्र पांडे कहते हैं कि विज्ञान के द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के भौतिक साधन प्राप्त कर सुखों की प्राप्ति में तो समर्थ हो जाता है, लेकिन वह अंतर्दृष्टि नहीं पा सकता जिससे मन को मुक्ति मिले। मन की मुक्ति से यहां उनका आशय उंन जटिलताओं से मुक्ति ही है जिनकी जकड़ में रहते हुए इस समय उसे विषमताभरा जीवन जीना पड़ रहा है। इसीलिए डॉ. पांडे स्पष्ट करते हैं—'विशुद्ध वैज्ञानिक अपने परम सिद्धांतों को दर्शन की सहायता के बिना व्यवस्थित और संगत रूप नहीं दे सकते और न विज्ञान की सहायता के बिना विशुद्ध दार्शनिकीकरण से विश्व का स्वरूप-निर्धारण हो सकता है। अतः दर्शन और विज्ञान की एक नई उच्चस्तरीय समन्विति आज के चिंतन की परम आवश्यकता है।'

दर्शन से यहां तात्पर्य जीवन-व्यवहार से ही है। यदि हम ठीक तरह से देख पाएं तो इस नतीजे पर आसानी से पहुंच सकेंगे कि जीवन-व्यवहार के घालमेल ने ही अनेक तरह की

जटिलताएं और विसंगतियां पैदा की हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कारण हुए द्रुत विकास से यदि हमारा जीवन-व्यवहार प्रभावित न हुआ होता तो इन जटिलताओं से मुक्त रहा जा सकता था। जीवन-व्यवहार के सूत्र कोई अनजाने नहीं हैं। आज भी यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो हम गाड़ी को पटरी पर ला सकते हैं और अपने परिवेश व पर्यावरण को बचा सकते हैं और उसकी बिगड़ी सूरत में सुधार की संभावना तलाशी जा सकती है। समन्विति के अभाव और इकतरफा झुकाव ने जो असंतुलन पैदा किया है, उसे मिटाने के लिए शासन की दृढ़ इच्छाशक्ति और प्रबल प्रतिबद्धता सबसे पहले जरूरी है। हम देखते हैं कि समूचे विश्व के शासकों ने इस सचाई को तो स्वीकार किया है कि पर्यावरण और परिवेशिकी में गंभीर असंतुलन पैदा हो गया है, इसे रोकना आवश्यक है और यदि न रोका गया तो विनाश अवश्यंभावी है। पर, इस स्वीकार के बावजूद यदि किसी प्रकार का निर्णायक कदम न उठ सका तो उसका एकमात्र कारण यही माना जा रहा है कि 'बाजार की शक्तियां' शासकों पर हावी हैं। अपने हित-साधन के सिवा चूंकि 'बाजार' का कोई अन्य उद्देश्य कभी रहा ही नहीं है, अतः प्रथमतः तो यही जरूरी है कि 'बाजार की शक्तियों' पर अंकुश लगाया जाए, उनकी निरंकुशता को नियंत्रित किया जाए।

इसके दो उपाय सोचे जा सकते हैं। पहला उपाय तो शासन के ही हाथ में है कि वह उस 'बाजार' को ध्वस्त करे जो विलासिता को बढ़ाने, आदमी की श्रमशीलता को कुंठित करने में अग्रणी है। इस बाजार से गैर-बराबरी, हिंसा और विषमता पैदा होती है तथा परस्परता, प्रेम और सहभागिता-सहजीविता नष्ट होती है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी से आम आदमी की बेहतरी कैसे हो सकती है—उस दिशा में उसे अग्रसर किया जाए। दूसरा उपाय वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी, जिसमें शासन का नैतिक व सांसाधनिक संबल होना जरूरी है। विज्ञान और दर्शन की समन्विति का निहितार्थ भी यही है। यह उपाय है—वह जीवन-व्यवहार, जो अध्यात्म की वेदी पर अवलंबित हो। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास और विस्तार के लिए जितने संसाधन शासन की ओर से जुटाए जाते रहे हैं, इसके लिए भी आवश्यकतानुसार संसाधन उपलब्ध कराने की वचनबद्धता होनी चाहिए। हमारे जीवन-व्यवहार में वे सभी बातें समाहित हो सकती हैं जो हमारे पर्यावरण को पुष्ट बनाती हैं। इसके लिए लोक-शिक्षण एक जरूरी पक्ष है। यह भी आवश्यक है कि उन सभी कार्यकलापों को जो पर्यावरण के प्रतिगामी हो सकते हैं, को आम-जीवन से अलग-थलग करने के कठोर उपाय व कदम शासन की ओर से उठें। ये उपाय यदि पूरी प्रतिबद्धता से किए जाएं तो जिस विषमता और असंतुलन का जीवन हम देख रहे हैं, उससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। विश्व पर्यावरण दिवस पर इस बार उपरोक्त मतानुसार विचार किया जाना चाहिए।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारतीय मन मूलतः परस्परता और सौहार्द में विश्वास रखता है। अहिंसा, प्रेम और सहिष्णुता अभी भी भारतीय मन की अकाट्य पहचान हैं। भौतिकता के दुर्द्धर्ष दबाव के उपरांत भी शांतिपूर्ण जीवन के लिए, मन की शांति के लिए—संयम, श्रद्धा और सत्यनिठा के प्रति लोगों की आस्था घटी नहीं है। अध्यात्म भी तो यही है और जिन अर्थों में अब अध्यात्म को परिभाषित किया जाने लगा है, आम-जीवन में उसका समावेश भी अब सहज-सरल हो सकता है। यह होने से ही समस्याओं से मुक्ति और जीवन की सहजता हासिल हो सकती है। अध्यात्म का तात्पर्य अब उन बातों को प्रायोगिक रूप देने में है जो क्रियाकांडों से मनुष्य को बचाते हुए कथनी और करनी के भेद को समाप्त करता है। इसीलिए आध्यात्मिकता और वैज्ञानिकता को निकट लाकर देखने की अवधारणा ने जमीन बनानी शुरू की है।

इसी के साथ अपनी पारंपरिक जीवन-शैली को भी हमें फिर से देखना चाहिए। उस जीवन-चर्या, खान-पान और रहन-सहन की ओर गौर करें तो हम पाएंगे कि यदि पूरी तरह उसे ही अंगीकार कर लिया जाए तो हमारा अपना पर्यावरण परिपुष्ट हो जाएगा। हमारी उस जीवनचर्या में आहारशुद्धि और व्यसन-मुक्ति प्रमुखतः रहे हैं। ये केवल शारीरिक विकारों से ही मुक्त नहीं रखते, हमारे मानसिक-स्नायविक तंत्र को भी सकारात्मक क्षमता प्रदान करते हैं। इसके विपरीत जो जीवन-चर्या है, वह सर्वथा अप्राकृतिक है। हम जानते हैं कि प्रकृति के विरुद्ध जाने का अर्थ है—उसका कोप-भाजन बनना। प्रकृति का अपना दंड-विधान है, वह किसी को माफ नहीं करती, पर दंड-स्वरूप कब कहर बरपा दे, पता भी नहीं चलता।

यदि हम ऐसा मानते हों, तो हमें अपना जीवन-व्यवहार प्रकृति-सम कर ही लेना चाहिए। ज्ञान का सार हमारे ऐसे ही आचार में निहित है। हमारा पर्यावरण भी इसी में सुरक्षित है।

—शुभू पटवा

विमर्श

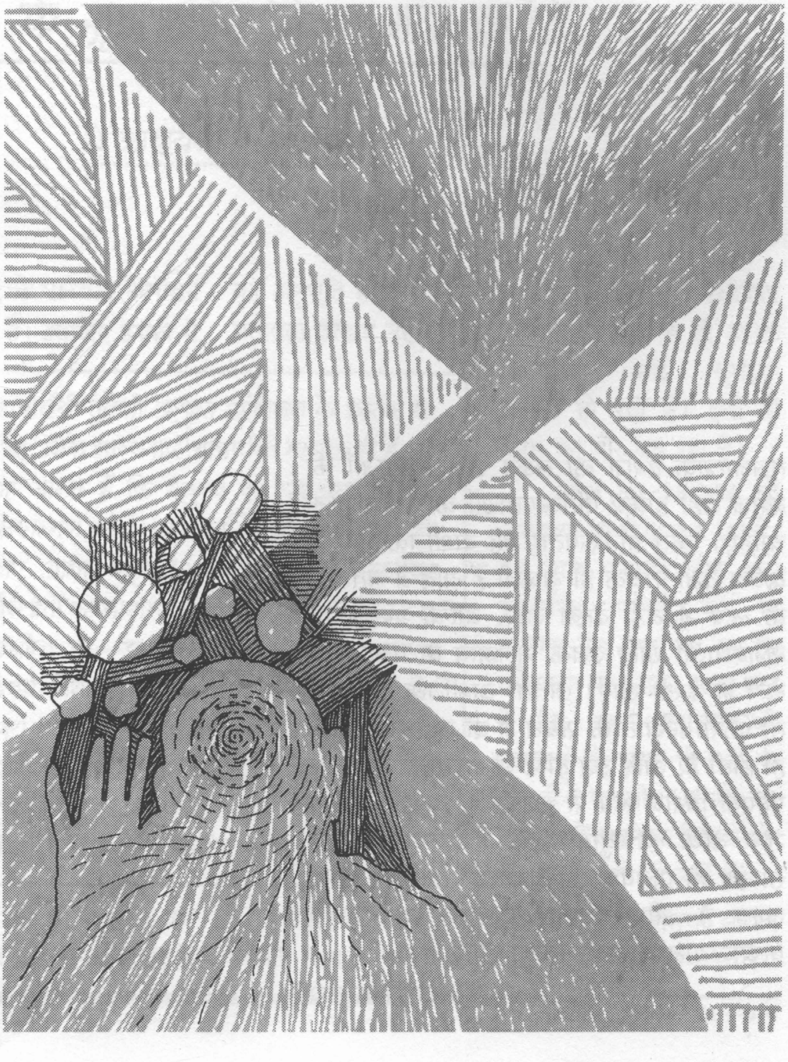

तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य अनुख्याताओं की खोज नहीं होकर प्रतिरूपताओं की खोज होना चाहिए। किंतु प्रतिरूपताएं भी दार्शनिक रूप से केवल तभी रोचक हो सकती हैं यदि वे मतवादों के रूप में नहीं देखी जाएं, बल्कि प्रस्तुत हुई समस्याओं और उनके सुलझाव के प्रयत्नों के रूप में देखी जाएं। अंततः दार्शनिक की रुचि तो किसी स्थिति के संबंध में दी गई युक्तियों में ही होती है, और इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक परंपरा विशेष रूप से समृद्ध है, क्योंकि इसका मूल ढांचा ही युक्तिपरक है, क्योंकि इसमें आरंभ ही प्रतिपक्ष की युक्तियों के साथ किया जाता है और अपना मत इस प्रतिपक्ष के प्रत्याख्यान के साथ किया जाता है।

—प्रो. दयाकृष्ण

असत्य बोलना विकृति की अभिव्यक्ति मात्र है। मूल दोष है—विकृति। उसका परिशोधन एक ही साथ नहीं हो जाता। सत्य की एक रेखा खींची जाती है। वह सध जाती है। फिर दूसरी खींची जाती है। इस प्रकार साधते-साधते उसकी समग्रता सध जाती है। यह क्रमिक अभ्यास है। इसमें दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न नहीं। अमुक कोटि का असत्य बोलूंगा—इस भावना की भी प्रधानता नहीं है। इसमें प्रधानता विविध रेखाओं को पार करते हुए सत्य तक पहुंच जाने की है। अणुव्रत असत्य को मान्यता नहीं देता, किंतु उसमें वास्तविकता का स्वीकार है। वह व्यक्ति की दुर्बलता को प्रश्रय देने के लिए नहीं, किंतु उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए है। अहिंसा के अणुव्रत और महाव्रत के विभाग का नैश्चयिक हेतु जीवन की अनिवार्यता नहीं, किंतु निर्मोह-भाव का तारतम्य है। वैसे ही इन दो भागों में बांटने का हेतु निर्मोह-भाव की तरतमता है। वह कृत्रिम रेखा नहीं है इसलिए अणुव्रत और महाव्रत का विभाग भी स्वाभाविक है।

❑

अणुव्रत के सूत्र और क्रियात्मक क्रांति

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक थे, किंतु उसके भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञ ही हैं, जो यह मानते हैं कि मनुष्य के रूपांतरण के लिए क्रियात्मक क्रांति आवश्यक है और अणुव्रत उसके लिए आधार भूमि है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह जैसे व्रतों का सामान्य आचार-व्यवहार में किस तरह समावेश हो—इस दृष्टि से अणुव्रत पर व्यापक विचार-विमर्श की जरूरत भी वे स्वीकार करते हैं और स्वयं भी अपना विमर्श प्रकट करते रहते हैं। अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी की नौवीं पुण्यतिथि (24 जून) के अवसर पर ऐसा ही एक विमर्श, उनका पावन स्मरण करते हुए—

अब तक जो क्रांतियां हुई हैं, वे मानवीय उत्पीड़न और शोषण की प्रतिक्रिया हैं। इसलिए इनको मैं प्रतिक्रियात्मक क्रांतियां मानता हूं। क्रियात्मक क्रांति अभी नहीं हुई है। सत्ता और अर्थ का रूपांतरण होने पर भी मनुष्य का पुनर्मूल्यन नहीं हुआ है। आज भी सत्तारूढ़ व्यक्ति का वही मूल्य है, जो एक राजा का था। मूल्य सत्ता को प्राप्त है, मनुष्य का स्वतंत्र मूल्य नहीं है। आज भी एक कर्मचारी को अधिकारी के सामने यह अनुभूति नहीं होती कि मैं उसके जैसा ही मनुष्य हूं। क्षमता और कार्य के भेद ने मनुष्यता को भी विभक्त कर रखा है। व्यवस्था के तारतम्य के नीचे जो मानवीय एकता की अनुभूति होनी चाहिए, वह विकसित नहीं है। इसीलिए मानवता अखंड नहीं है। इस खंडित मानवता से ही अनेक विकृतियां और बुराइयां उत्पन्न हो रही हैं। इसी से हिंसा का दौर बढ़ रहा है।

आज का अहिंसक भी असहाय-सा दिखाई दे रहा है। वह जाने-अनजाने हिंसा द्वारा प्रस्थापित मूल्यों को ही मान्यता दिए चला जा रहा है। बाह्याचार पर उसका इतना बल है कि वह अध्यात्म की गहराइयों में झांक ही नहीं पा रहा है। मानवीय क्षमता या एकता को देखने के लिए उसके नेत्र अभी खुले ही नहीं हैं।

अहिंसक का क्षेत्र संन्यास ही नहीं है। समूचा समाज उसकी साधना-भूमि है। अहिंसक की पैनी दृष्टि बाहरी

आवरणों को चीरकर गहराई में पैठ जाती है। वहां मनुष्य मनुष्य ही है, और कुछ नहीं है। सब बंधनों, व्यवस्थाओं, प्रवृत्तियों से परे, केवल मनुष्य और उसके ही जैसा मनुष्य। इस एकत्वानुभूति की दृष्टि का विकास वर्तमान पीढ़ी की क्रांति का नया आयाम हो सकता है। इसके स्फुलिंग अभी भी उछल रहे हैं। इसकी ज्योति को पुंजित करना अभी शेष है। इसकी अपेक्षा है अंतःकरण को छूने वाली किसी अहिंसा से या किसी अहिंसक से।

क्रांति की मेरी परिभाषा है—सामाजिक धारणाओं, व्यवस्थाओं और व्यवहारों का पुनर्जन्म। उसका सूत्रधार है मनुष्य। मनुष्य का नया जन्म होता है, तब-तब नए प्रश्न उपस्थित होते हैं। आज का नया प्रश्न है—हम क्या करें?

इसका नया उत्तर है—जो सूझे, वह करें। कम-से-कम इतना ध्यान अवश्य रखें कि आपके ही समान सुख-दुख की अनुभूति वाले सामाजिक प्राणी के हितों की बलि चढ़ाकर अपने हितों का प्रासाद खड़ा न करें। राजनीतिक क्रांति द्वारा सत्ता और अर्थ के स्थानों में परिवर्तन हुआ है। सत्ता उच्चवर्ग के हाथों से खिसककर उस वर्ग के हाथ में आ गई है, जो शोषित था। अर्थ का अधिकार व्यक्तिगत क्षेत्र से हटकर सामुदायिकता के क्षेत्र में चला गया। यह परिवर्तन कोई कम नहीं है, अभूतपूर्व परिवर्तन है। पर मानवता के स्तर पर यह अंतिम नहीं है। विकास की संभावनाएं अभी बहुत शेष हैं। समाज का प्रमुख घटक है—मनुष्य। मानवीय स्तर पर अभी बहुत कम परिवर्तन हुआ है। अहिंसा की व्यापक निष्ठा के बिना वह हो भी नहीं सकता।

इस दृष्टि से अणुव्रत आंदोलन हमारे सामने है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह जैसे सिद्धांतों को जीवन-व्यवहार में उतारने में अणुव्रत की भूमिका महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। अणुव्रत आंदोलन के बारे में व्यापक स्तर पर विचार होना जरूरी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इसमें निहित गूढ़ार्थों को समझें। अणुव्रत के पीछे जो तात्त्विक दृष्टि है उस पर भी गौर करने की जरूरत है और इसके निहितार्थों को समझना आवश्यक है।

अणुव्रत की आधार भूमि

हिंसा, परिग्रह और अब्रह्मचर्य में जो दोष हैं, वे शक्यता और अशक्यता से उत्पन्न या नष्ट नहीं होते, अपितु हिंसा इसलिए सदोष है कि वह राग, द्वेष या मोह से अभिन्न प्रवृत्ति होती है और अहिंसा इसलिए निर्दोष है कि वह रागादि से भिन्न प्रवृत्ति होती है। निर्दोषता और सदोषता मूलतः राग और द्वेष के अभाव और भाव में है। अशक्यता जैसे बाह्य परिस्थिति-जनित होती है, वैसे ही राग-द्वेष-जनित भी होती है। अशक्यता को सहसा शक्यता में बदल देना हरेक व्यक्ति के लिए सरल नहीं होता। आंतरिक वृत्ति की यह दुर्बलता ही अणुव्रत आंदोलन की आधार भूमि है।

सत्य, असत्य और यथार्थ

साधारणतया सत्य का अर्थ है—सत्, यथार्थ या परमार्थ। जो है, वह सत्य है। यह सत्य की स्वभावगत व्याख्या है। जो यथार्थ है, वह सत्य है—यह सत्य की आचारात्मक व्याख्या है।

सत् और यथार्थ दर्शन के विषय हैं। स्वभावगत सत्य सदा सत्य रहता है। वह कभी असत्य नहीं होता। वस्तु-स्वभाव को पकड़ने में हमारी दृष्टि की जो विशुद्धता और अनाग्रहशीलता है, वह दृष्टि-सत्य है।

परम अर्थ की प्राप्ति के लिए हम ऋजु भाव की आराधना करते हैं, यह आचार सत्य है। दृष्टि सत्य सम्यक्-दर्शन है, वह व्रत की पृष्ठभूमि है। व्रत का संबंध आचार-सत्य से है और उसका संबंध शरीर, वाणी, मन और अविसंवादन योग से है।

साधारणतया सत्य को मृषावाद का प्रतिपक्ष समझा जाता है, किंतु व्यापक अर्थ में वक्रता मात्र मिथ्या है और जो ऋजुता है, यथार्थ का गोपन नहीं है, वह सत्य है। सूक्ष्म कोटि में विचार और कार्य का विसंवाद है, उनमें द्वैध है—वह असत्य है। शरीर का एक इंगित मात्र, जो मन के भावों का गोपन करे, वह असत्य है। इस कोटि के असत्य के वर्जन की जागरूकता प्रमादपूर्ण जीवन में बहुत बार नहीं होती। सत्य के व्रती के जागरूक भाव के बिना सत्य की आराधना नहीं होती। पारिवारिक जीवन की जटिलता और सामाजिक विधि-विधानों की मर्यादा में रहने वाला सत्य का पालन करने की सतत जागरूकता कम रख पाता है।

ज्ञान, श्रद्धा और आचार

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सत्य को जानते ही नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सत्य को जानते हैं, पर उसमें उनकी श्रद्धा नहीं होती। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सत्य को जानते भी हैं, उसमें उनकी श्रद्धा भी होती है, किंतु उसका आचरण नहीं कर पाते। कुछेक में आचरण की शक्ति का थोड़ा विकास होता है, वे मिथ्या वचन या असत्य को श्रेष्ठ नहीं मानते, किंतु मानसिक दुर्बलतावश उसे छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

ज्ञान और श्रद्धा की समर्थता में भी आचरण की असमर्थता होती है। इसलिए ज्ञान, श्रद्धा और आचार में पौर्वापर्य माना जाता है। ज्ञान की परिणति श्रद्धा में और श्रद्धा की परिणति आचार में होती है। जानने के पश्चात् उसमें श्रद्धा हो, यह जरूरी नहीं है। जिसमें श्रद्धा है, उसका आचरण हो—यह भी जरूरी नहीं है, किंतु जिसका आचरण होता है, उसमें श्रद्धा भी होती है और उसका ज्ञान भी होता है। हमारी ज्ञान-शक्ति का विकास होता है, हम जानते हैं। हमारी दृष्टि-शक्ति का विकास होता है, हम श्रद्धालु बनते हैं। हमारी चरित्र-शक्ति या निर्मोह भावना का विकास होता है, हम आचारवान बनते हैं।

आचार की तीन भूमिकाएं

आचार की तीन प्रधान भूमिकाएं हैं—1. अणुव्रत, 2. महाव्रत और 3. यथाख्यात।

गृहवासी व्यक्ति का आचार अणुव्रत कहलाता है। सरागमुनि का आचार महाव्रत और वीतराग मुनि का आचार यथाख्यात कहलाता है। कथनी और करनी में जो भेद है, उसका पूर्ण अंत वीतराग दशा में होता है।

सत्य और अहिंसा

सत्य और अहिंसा, दोनों, धर्म हैं। इनमें बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं होता। दोनों सापेक्ष हैं। अहिंसा के बिना सत्य नहीं होता और सत्य के बिना अहिंसा नहीं होती। निश्चय नय में ये दो हैं ही नहीं। सत्य अहिंसा का ही एक पहलू है। साधना की दृष्टि से हमने इन्हें विभक्त किया है। जीव-वध के संवरण को प्राणातिपात विरति कहते हैं, तब वाणी के संवरण को मृषावाद विरति या सत्य। अहिंसा का स्वरूप व्यापक है। असत् का संवरण और सत् का प्रवर्तन अहिंसा है। इस रूप में सत्य अहिंसा से भिन्न नहीं है। शरीर, वाणी और मन की वक्रता असत्य है, विसंवाद असत्य है। काया, वाणी और मन की ऋजुता सत्य है, अविसंवाद सत्य है। वक्रता हिंसा और ऋजुता अहिंसा है।

अहिंसा और सत्य दोनों साधन हैं। इनका साध्य है आत्मा का सहज भाव। वह सत्य भी नहीं है, अहिंसा भी नहीं है। वह असत्य भी नहीं है, हिंसा भी नहीं है। सत्य और अहिंसा साधनाकालीन तत्त्व हैं। जीवन में हिंसा और असत्य आ जाते हैं, तब स्वभाव विभाव बन जाता है, प्रकृत विकृत बन जाता है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए मनुष्य यत्न करता है, साधना करता है। अहिंसा और सत्य का आलंबन ले विकृति से प्रकृति में आ जाता है।

प्राणातिपात जीवन की अशक्यता भी है, किंतु हिंसा और असत्य जीवन की अशक्यता या अनिवार्यता नहीं, किंतु उसकी विकृति है। प्राणातिपात का मूल जीवन की प्रवृत्तियों में भी है, किंतु हिंसा और असत्य का मूल मोह है। मोह एक आत्मिक संस्कार और कर्म है, जो राग-द्वेष की भावनाओं से पुष्ट होता रहता है। मोह आत्मा को विकृत बनाता है। विकृत आत्मा की प्रवृत्तियों को हम अनेक नाम दे देते हैं, किंतु वास्तव में उन सबका नाम है हिंसा।

यह विश्व जीवों का संकुल है। चलते-फिरते कहीं-न-कहीं जीव-वध हो ही जाता है। दैहिक दशा में निर्मोह भाव प्राप्त हो सकता है, किंतु प्राणवध न हो, ऐसी स्थिति सर्वभावेन प्राप्त नहीं होती।

मुमुक्षुत्व की कोटियां

मुमुक्षु का प्रयत्न प्राण-वध से निवृत्त होने के लिए नहीं होता, किंतु निर्मोह बनने के लिए होता है। निर्मोह बनने के लिए प्राण-वध से निवृत्त होना आवश्यक है। इसलिए वह प्राण-वध न करने के लिए सतत जागरूक रहता है। मुमुक्षु-भाव सबमें समान नहीं होता। एक व्यक्ति अनेक कष्टों को झेलकर भी प्राण-वध से निवृत्त रहने का यत्न कर सकता है, किंतु दूसरा प्राण-वध से निवृत्त रहने के लिए कष्टों को झेलना नहीं चाहता।

एक व्यक्ति अपराध करने वाले के प्रति भी मित्र-भाव रख सकता है, किंतु दूसरा वैसा नहीं कर सकता। इस प्रकार मुमुक्षु-भाव की अनेक कोटियां हैं, जो मोह की तरतमता के अनुसार निर्मित होती हैं और हिंसा तथा अहिंसा की अनेक रेखाएं खींचती हैं। स्वरूप की दृष्टि से हिंसा भी एक है और अहिंसा भी एक है। मात्रा की दृष्टि से हिंसा और अहिंसा दोनों के अनेक विकल्प बनते हैं। उनमें से अहिंसा की एक कोटि का नाम अणुव्रत है और एक कोटि का नाम महाव्रत है। अणुव्रत अहिंसा की एक कोटि है, किंतु अणुव्रतियों में अहिंसक वृत्ति का अपार तारतम्य हो सकता है। यही बात महाव्रतियों के लिए है। भगवान महावीर ने महाव्रतियों की अहिंसा भावना में द्वितीया और पूर्णिमा के चांद-सा तारतम्य बतलाया है। सूक्ष्म दृष्टि से ये जितने तरतम भाव हैं, उतने ही विभाग हैं। स्थूल दृष्टि से साधना की सुलभता के लिए दो मोटे विभाग किए हैं, जिनका तात्पर्य है कि मुमुक्षु-भाव मंद हो, तो वह घर और परिवार के साथ रहकर भी अहिंसा के लिए सत्प्रयत्नशील

रहे और यदि मुमुक्षु-भाव तीव्र हो तो वह घर और परिवार से पृथक रहकर ही अहिंसा की साधना करे। ये भाव आंतरिक शुद्धि को बांधने वाले नहीं, किंतु आंतरिक शुद्धि के लिए बाहरी भूमिका का उपयुक्त चुनाव करने के लिए हैं। यह सही है कि प्राण-वध और परिग्रह की जीवन में जो अनिवार्यता है, मृषावाद, चोरी और अब्रह्मचर्य की नहीं है। फिर भी अहिंसा और अपरिग्रह की भांति सत्य को महाव्रत और अणुव्रत के रूप में विभक्त किया जाता है, वह निर्हेतुक नहीं है।

स्वाभाविक है अणुव्रत और महाव्रत का विभाग

असत्य का हेतु जीवन की अनिवार्यता नहीं, किंतु मोहजनित विकृतिपूर्ण मनोभाव है। असत्य बोलने का प्रसंग जीवन में कभी आता है, बाह्य निमित्त मिलते हैं, तब सामाजिक प्राणी असत्य बोलते हैं। अकेला व्यक्ति असत्य नहीं बोलता। असत्य बोलना विकृति की अभिव्यक्ति मात्र है। मूल दोष है—विकृति। उसका परिशोधन एक ही साथ नहीं हो जाता। सत्य की एक रेखा खींची जाती है। वह सध जाती है। फिर दूसरी खींची जाती है। इस प्रकार साधते-साधते उसकी समग्रता सध जाती है। यह क्रमिक अभ्यास है। इसमें दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न नहीं। अमुक कोटि का असत्य बोलूंगा—इस भावना की भी प्रधानता नहीं है। इसमें प्रधानता विविध रेखाओं को पार करते हुए सत्य तक पहुंच जाने की है। अणुव्रत असत्य को मान्यता नहीं देता, किंतु उसमें वास्तविकता का स्वीकार है। वह व्यक्ति की दुर्बलता को प्रश्रय देने के लिए नहीं, किंतु उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए है। अहिंसा के अणुव्रत और महाव्रत के विभाग का नैश्चयिक हेतु जीवन की अनिवार्यता नहीं, किंतु निर्मोह-भाव का तारतम्य है। वैसे ही इन दो भागों में बांटने का हेतु निर्मोह-भाव की तरतमता है। वह कृत्रिम रेखा नहीं है इसलिए अणुव्रत और महाव्रत का विभाग भी स्वाभाविक है।

संघटन या विघटन

एक व्यक्ति समूह में रहकर भी अकेला रहता है और एक व्यक्ति अकेला रहकर भी समूह में रहता है। आत्मा वास्तव में अकेली ही है। उसके साथ एक समुदाय अपनी वृत्तियों का होता है और दूसरा व्यक्तियों का। जिसकी वृत्तियां निर्मोह होती हैं, वह व्यक्तियों के बीच रहकर भी अकेला रहता है और जिसकी वृत्तियां मोहप्रधान होती हैं, वह अकेला रहकर भी समुदाय में रहता है।

आत्मा की प्रकृति

आत्मा की प्रकृति विघटनात्मक है, वह अकेले में रहती है। संघटन व्यवहार की वस्तु है। जहां देह है, वहां कुछ-न-कुछ व्यवहार होता ही है। जहां व्यवहार होता है, वहां कुछ-न-कुछ सीमाएं भी होती हैं। मुमुक्षु व्यक्ति जैसे-जैसे परमार्थ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यवहार की सीमाएं टूटती जाती हैं। आगम-पुरुष के लिए कोई शास्त्र नहीं होता। वह स्वयं शास्त्र होता है। शास्त्र उसी के लिए है, जो आगम नहीं होता—विशिष्ट ज्ञानी नहीं होता।

भगवान महावीर ने साधना की दोनों श्रेणियों को मान्यता दी। एक मुनि संघ में रहकर चरित्र की आराधना करता है तो दूसरा संघ से अलग रहकर उसकी आराधना करता है। आराधना दोनों स्थितियों में की जा सकती है। स्थिति का चुनाव आराधक की योग्यता पर निर्भर है। अकेले रहकर साधना करने को भगवान ने विशेष महत्त्व दिया है। पर इससे भी अधिक महत्त्व उन्होंने इस प्रश्न को दिया है कि अकेला कौन रहे?

अकेला कौन?

शिष्य ने पूछा—भगवन! अकेला कौन रह सकता है?

भगवान ने उत्तर दिया—जिसका शरीर-बल, धृति-बल, श्रद्धा-बल, ज्ञान-बल, तपोबल विशिष्ट हो और जो साधना के लक्ष्य पर अडिग हो, वही मुनि अकेला रहने का अधिकारी है। जिसकी धृति और श्रद्धा दुर्बल होती है वह अकेला रहकर उतना भी नहीं पा सकता, जितना संघ में रहकर पा सकता है।

संघ में रहने का प्रयोजन यही है कि कोई साधक धर्म से डिगता हो, उसे दूसरा साधक पुनः धर्म में स्थापित करे; एक-दूसरे की साधना में सहयोग करे। संघ-बद्धता का प्रयोजन नियंत्रण नहीं है।

साधना के व्रत संघ में रहे, उसके लिए भी होते हैं और अकेला रहे, उसके लिए भी। संघीय व्यवस्थाएं, उसी के लिए होती हैं जो संघ में रहें, संघमुक्त के लिए नहीं। कुछ बातें ऐसी होती हैं कि जिनका अस्तित्व दो में होता है, अकेले में नहीं। इसलिए एक की स्थिति में जो अनावश्यक होता है, वह अनेक की सहस्थिति में आवश्यक होता है।

कोई भी साधक चलते ही सिद्ध नहीं बनता। वह साध्य की सिद्धि का दृढ़ संकल्प लेकर चलता है। फिर भी उसमें राग-द्वेष का अस्तित्व रहता है; संस्कार, पूर्वाग्रह और

मानसिक झुकाव भी निर्मूल नहीं हो जाते। वह कभी रागी बन जाता है और कभी द्वेषी। समुदाय में कभी-कभी उत्तेजनापूर्ण परिस्थितियां भी बन सकती हैं। इसीलिए संघ-व्यवस्था में इनके निराकरण का प्रयत्न और विधान होता है। अकेले में ऐसी वृत्तियों से सहज मुक्ति मिल जाती है।

विघटन : उत्कर्षपूर्ण स्थिति

शिष्य ने पूछा—भंते! सहाय प्रत्याख्यान—दूसरों का सहयोग न लेने वाला व्यक्ति क्या प्राप्त करता है?

भगवान ने कहा—सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलंबन का अभ्यास करता है। वह कोलाहल-शब्दों से मुक्त, वाचिक कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू-मैं-मैं से मुक्त, प्रचुर संयम वाला और समाधिस्थ हो जाता है। संघ में रहने वाला कभी-कभी कलह आदि के जाल में फंस भी जाता है। उसके लिए व्यवस्थाएं और मर्यादाएं भी होती हैं, पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह धर्म की आराधना कर ही नहीं सकता। यह सही है कि विघटन साधना की उत्कर्षपूर्ण स्थिति है। यदि सारे साधक या धार्मिक विघटन के अयोग्य हो जाएं तो उसे धर्म के इतिहास में अभूतपूर्व घटना कहा जाएगा।

तर्क की भाषा में इसका समाधान अप्राप्त नहीं है कि एक साधक साधना की उच्च स्थिति को पा सकता है, विघटन की योग्यता का अर्जन कर सकता है, तो दूसरा साधक क्यों नहीं कर सकता? वह भी तो मनुष्य है। मनुष्य होने के कारण जो एक के लिए संभव है, वह दूसरे के लिए भी संभव हो सकता है, किंतु साधना मनुष्य का अनिवार्य गुण नहीं है, वह योग्यता-सापेक्ष है। सब मनुष्यों में आंतरिक योग्यता समान नहीं होती; क्रोध, मान आदि दोषों का उपशम समान नहीं होता। जिस व्यक्ति के दोष अधिक उपशांत होते हैं, वह साधना में सफल होता है। जो अकेला रहता है उसे अधिक उपशांत होना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में जो दोषों से अधिक मुक्त हो, वही अकेला रहने का अधिकारी है।

अनेकांत दृष्टिकोण

संघ में दोनों प्रकार के साधक होते हैं—अधिक उपशम वाले और कम उपशम वाले। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों के लिए विशेष व्यवस्थाएं आवश्यक नहीं होतीं क्योंकि उनका आत्मानुशासन अधिक बलवान होता है। दूसरी श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिए वे आवश्यक होती हैं। साधना की विशेष योग्यता वाले व्यक्ति ही यदि संघ में हों तो संघटित या विघटित साधना-प्रणाली में विशेष अंतर नहीं आता। किंतु जहां संघ है, साधना को हरेक के लिए सुलभ करने का प्रयत्न है, वहां कम योग्यता वालों को रोका भी कैसे जा सकता है? जिसमें साधना का भाव न हो, वह व्यक्ति भी कभी-कभी किसी प्रलोभनवश धर्मसंघ में आ जाता है। जिसमें साधना का भाव होता है, किंतु उसकी योग्यता कम होती है, वह भी धर्मसंघ में प्रविष्ट हो जाता है और जहां संघ होता है, वहां उसको सर्वोत्कृष्ट बनाने का यत्न भी होता है। ये संघटन की विशेष परिस्थितियां हैं। संघटन में स्पर्धा, यश, पद-प्रतिष्ठा की महत्त्वाकांक्षा के बीज निहित होते हैं। यदि साधना का भाव प्रबल होता है तो उन बीजों को पनपने का अवसर नहीं मिलता और यदि साधना की वृत्ति क्षीण हो तो वे बीज विकास पा जाते हैं। संगठन के साथ साधना का तेज प्रखर हो तो वह जन-साधारण के लिए विघटित-प्रणाली की अपेक्षा अधिक लाभदायक हो सकता है। अतः अनेकांत-दृष्टिकोण से देखा जाए तो साधना की विघटित प्रणाली व्यक्तिगत रूप से अधिक मूल्यवान है और संघटित प्रणाली जनता के लिए अधिक उपयोगी है। ❖

भक्ति और प्रेम के द्वारा मनुष्य निःस्वार्थ हो जाता है। आदमी के मन में जब भी किसी व्यक्ति या आदर्श के प्रति प्रेम और भक्ति उपजती है, तब ठीक उसी अनुपात में स्वार्थपरता का ह्रास होता है। प्रेमाभ्यास से मनुष्य क्रमशः सभी संकीर्णताओं के ऊपर उठकर विश्व में लीन हो सकता है। इसी से प्रेम, भक्ति या श्रद्धा—इनमें से किसी को भी चित्त में लाना आवश्यक है। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा हो जाता है। अपने को दुर्बल, पापी जो सोचते हैं, वे क्रमशः दुर्बल, पापी हो जाते हैं; जो अपने को शक्तिशाली और पवित्र मानते हैं वे शक्तिशाली और पवित्र हो उठते हैं—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'।

—सुभाषचंद्र बोस

पूर्वजन्म व पुनर्जन्म हैं—इनकी प्रामाणिकता का एक माध्यम जातिस्मृति ज्ञान है। जातिस्मृति मतिज्ञान का ही एक भेद है। इसमें व्यक्ति इस जीवन की सीमा पार कर इस जीवन से परे एक या अनेक जन्मों को जानने-देखने लगता है।

जैन दर्शन के अनुसार सामान्यतया कोई जीव अपने अतीत के नौ संज्ञी जन्मों तक लौट सकता है। उन्हें जान-देख सकता है। बीच में यदि उसका कोई असंज्ञी भव आ गया तो उससे आगे वह नहीं बढ़ सकता। साथ ही अतीत के संज्ञी भवों में यदि उसे कहीं जातिस्मृति या अवधिज्ञान हुआ हो तो उस आधार पर अनगिनत जन्मों की घटनाओं को व्यक्ति साक्षात जान सकता है।

सूक्ष्म तथा पराचेतन अस्तित्व

❑ समणी सत्यप्रज्ञा ❑

'क्या मृत्यु के बाद जीवन है?' वैज्ञानिक शोधों के बावजूद इस प्रश्न पर अभी भी एक राय नहीं है। मृत्यु जीवन के साथ जुड़ा हुआ अपरिहार्य सत्य है। वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ जीवन शैली में भी बहुत परिवर्तन आए हैं, पर मृत्यु को टाला जा सके, ऐसा अब तक संभव नहीं हो सका है। अस्तित्व की इस सचाई को अपने-अपने ढंग से सभी व्याख्यायित करते हैं।

सामान्यतः पदार्थ की चार अवस्थाएं होती हैं—ठोस, द्रव, गैस और प्लाज्मा। सोवियत रूस के वैज्ञानिक श्री वी. एस. ग्रिश्चेंको ने पदार्थ की पांचवीं अवस्था 'जैवप्लाज्मा' (प्रोटोप्लाज्मा, बायोप्लाज्मा) की खोज की। ग्रिश्चेंको के अनुसार जैवप्लाज्मा में स्वतंत्र इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन होते हैं। यह मानव की सुषुम्ना नाड़ी में एकत्रित रहता है। प्रोटोप्लाज्मा से संबंधित निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत में प्रचलित सूक्ष्म-शरीर की अवधारणा का जैवप्लाज्मा से बहुत साम्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार, मरने के बाद यह तत्त्व शरीर से अलग हो जाता है। यही तत्त्व 'जीन' में परिवर्तित हो जाता है। बच्चा जब जन्म लेता है तब बायोप्लाज्मा पुनः जन्म ले लेता है। यह सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म-शरीर के संसर्ग से युक्त आत्मा ही पुनर्जन्म लेती है। प्रोटोप्लाज्मा की अवधारणा से आत्मा की अमरता व पुनर्जन्म—ये दोनों ही सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार, जब प्रोटोप्लाज्मा का कण स्मृति पटल पर जाग्रत हो जाता है, तब पूर्वजन्म की घटनाएं याद आने लगती हैं। जैन दर्शन के अनुसार पूर्वजन्म की स्मृति सूक्ष्म-शरीर में संचित रहती है और निमित्त पाकर जाग जाती है। जन्मांतर के संबंधमूलक संस्कार सभी के चित्त में विद्यमान रहते हैं। विशिष्ट उद्दीपक कारणों का योगायोग होने पर बाद में उक्त सभी संस्कार उद्‌बुद्ध होकर स्मृति के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब पूर्वजन्म के अनुभूत संबंध चित्त की अपेक्षित विशुद्धि के अनुसार स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से तैरने लगते हैं।

विश्लेषक मनोविज्ञान के प्रणेता कार्ल गुस्ताव युंग के अनुसार—'मनुष्य के लिए मूलभूत प्रश्न है कि वह किसी परा-तत्त्व से संबंधित है या नहीं।' युंग मनुष्य के उपचेतन को सार्वभौमिक मानते हैं। उन्होंने कहा कि यह उपचेतन ही पराबोध ग्रहण करता है। यह 'काल' तथा 'स्थान' की मर्यादाओं में नहीं बंधता। मृत्यु के बाद जीवन का कोई भौतिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता, लेकिन हमारे अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि वह है। हक्सले आत्मा के आवागमन, अर्थात मरणोत्तर जीवन में विश्वास करते थे। उन्होंने पूर्वजन्म के सिद्धांत को सत्य पर आधारित बताया है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक राबर्ट मायर ने ऊर्जा के अविनाशी होने की खोज की। जिस प्रकार पदार्थ अविनाशी है, उसी

प्रकार मानसिक और परा-मानसिक तत्त्व भी अविनाशी हैं। यह तत्त्व ही आत्मा है। मनोवेत्ता डॉ. जे. बी. राइन ने सिद्ध किया है कि मनुष्य का मन एक पराभौतिक और परा-जागतिक यथार्थ है। वह शरीर के साथ नहीं मरता। वह कभी नहीं मरता। यह इस बात का संकेत है कि मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म तथा परा-चेतन अस्तित्व बना रहता है। पूर्वजन्म के अद्‌भुत संस्मरण प्रस्तुत करते हुए परलोक विज्ञान में कहा गया—सूक्ष्म शरीर जब चेतन अवस्था में ही स्थूल शरीर से निकलता है, तब भी स्मृति बनी रहती है और यह स्मृति अगले जन्म में कुछ ही काल तक रहती है। अमेरिका के वर्जीनिया विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विज्ञान के प्राध्यापक श्री स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'पुनर्जन्म की बीस घटनाएं' में लिखा है—केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी इस प्रकार की घटनाएं हो चुकी हैं और होती रहती हैं, जिनसे पूर्वजन्म की स्मृतियों का सटीक प्रमाण मिल जाता है।

'मैं कौन था'—यह पूर्वजन्म के संज्ञान का चिंतन, मनन और विश्लेषण करने वाला सूत्र है। परलोक में 'मैं क्या होऊंगा'—यह भावी जन्म, पुनर्जन्म के संज्ञान का विषय सूत्र है। जन्म होता है और मृत्यु भी होती है, इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है। जो जन्मा है, वह पहले भी मरा था और जो मरा है वह मरण के बाद जन्म लेगा—यह प्रत्यक्ष नहीं है। लेकिन आत्मा स्थूल शरीर को छोड़कर भवांतर से आती है, भवांतर में जाती है। उसके साथ दो सूक्ष्म-शरीर (तैजस-कार्मण) सदा रहते हैं। जन्म के प्रारंभ में ही जीव में अपने शरीर के प्रति जो प्रतिबंध होता है वह जन्म-जन्मांतर में शरीर के परिशीलन के सतत अभ्यास के कारण होता है। इससे आत्मा का जन्मान्तर से आगमन सिद्ध होता है। आचारांग का प्रारंभ ही इस वाक्य से होता है—कुछ मनुष्यों को यह संज्ञा नहीं होती कि मैं पूर्व दिशा से आया हूं, अथवा दक्षिण दिशा से....।

पूर्वजन्म व पुनर्जन्म का कारण कर्म है। कर्म से बद्ध आत्मा संसार में जन्म-मरण के चक्र में घूमती रहती है। कर्म-मुक्त आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है। जन्म-मरण की परंपरा से मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन व परामनोविज्ञान में पूर्वजन्म की घटनाओं के स्वीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मृत्यु-निरपेक्ष है। मनुष्य की अंतश्चेतना शाश्वत है। वह अपनी अनंत यात्रा के प्रति पूर्ण सचेत रह सकता है। मृत्यु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वह मृत्यु को लांघकर उससे भी परे चला जा सकता है।

जातिस्मृति के हेतु

जातिस्मृति के तीन हेतु बताए गए हैं—स्वस्मृति, पर-व्याकरण, दूसरे के पास सुनना। स्वस्मृति—सहज स्मृति है। दूसरे के पास सुनना—बिना पूछे किसी अतिशय ज्ञानी द्वारा स्वतः निरूपित तथ्य को सुनकर पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेना है। ज्ञातधर्मकथा में वर्णित मेघ की जातिस्मृति—पर-व्याकरण से है। किसी आप्त के साथ व्याकरण—प्रश्नोत्तरपूर्वक मनन पर कोई उस ज्ञान को प्राप्त करता है। प्राचीन व्याख्यानुसार 'पर' शब्द उत्कृष्टता का वाचक है। इसलिए पर-व्याकरण का हार्द है—तीर्थंकर द्वारा व्याख्यात। निर्युक्ति में इस अर्थ का समर्थन मिलता है। पर-वचन व्याकरण ही जिन-व्याकरण है, क्योंकि जिन से उत्कृष्ट कोई नहीं है।

पूर्वजन्म व पुनर्जन्म हैं—इनकी प्रामाणिकता का एक माध्यम जातिस्मृति ज्ञान है। जातिस्मृति मतिज्ञान का ही एक भेद है। इसमें व्यक्ति इस जीवन की सीमा पार कर इस जीवन से परे एक या अनेक जन्मों को जानने-देखने लगता है। जैन दर्शन के अनुसार सामान्यतया कोई जीव अपने अतीत के नौ संज्ञी जन्मों तक लौट सकता है। उन्हें जान-देख सकता है। बीच में यदि उसका कोई असंज्ञी भव आ गया तो उससे आगे वह नहीं बढ़ सकता। साथ ही अतीत के संज्ञी भवों में यदि उसे कहीं जातिस्मृति या अवधिज्ञान हुआ हो तो उस आधार पर अनगिनत जन्मों की घटनाओं को व्यक्ति साक्षात जान सकता है।

'मैं कौन था?' यह जिज्ञासा जब सामान्य जिज्ञासा या इच्छा न रहकर तीव्र अभीप्सा बन जाती है। ईहा-पोह-मार्गणा-गवेषणा की गहन स्थिति व्यक्ति को एक तरह से जिज्ञासा की आग में उठाकर फेंक देती है। तीव्र इच्छा व्यक्ति को बेचैन बना देती है, येन-केन प्रकारेण उससे छुटकारा पाना ही होता है। समाधान के सिवाय व्यक्ति के सामने कोई विकल्प शेष नहीं बचता और चिंतनधारा एक ही दिशा में प्रवहमान हो, किनारा प्राप्त कर लेती है। अतीत के बंद दरवाजे खुल जाते हैं। चित्रपट की तरह ही अतीत के जीवन स्मृति-पटल पर स्पष्ट होते चले जाते हैं।

जातिस्मृति का उपादान कारण धारणा है। धारणा जितनी चिरस्थाई होती है, प्रतिष्ठा और कोष्ठा बुद्धि का जितना विकास होता है, जातिस्मृति की संभावनाएं उतनी ही

अधिक हो जाती हैं। पूर्वजन्म में अनुभूत वस्तुओं, परिचित व्यक्तियों आदि को देखकर, तत्सदृश घटनाओं आदि को देखकर या सुनकर जब व्यक्ति ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करता है, तब लेश्या विशुद्धि, चित्त की एकाग्रता एवं संस्कार प्रबोध से जातिस्मरण ज्ञान हो जाता है।

पूर्वजन्म व पुनर्जन्म की घटनाएं

मृत्यु के बाद भी जीवन का अंत नहीं होता—आत्मवाद की यह उद्घोषणा अस्तित्व के स्थाइत्व को सूचित करती है। अनात्मवादियों के अनुसार वर्तमान जीवन समाप्त हो जाने के बाद कुछ भी शेष नहीं बचता। क्योंकि पंच-भूतों से प्राण बनता है, उनके अभाव में प्राण नाश हो जाता है, मृत्यु हो जाती है। जैन दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। ज्ञातधर्मकथा के अनेक घटना प्रसंग पूर्वजन्म व पुनर्जन्म से गुंथे हुए हैं। इतना ही नहीं, व्यक्ति अपनी मति का विशिष्ट संप्रयोग करते हुए अपने अतीत में प्रवेश कर सकता है। अतीत के जीवन को, अतीत के जीवन से जुड़ी घटनाओं को पूर्णतः यथार्थ रूप में जान, देख सकता है। इसे जातिस्मृति कहा जाता है। मेघकुमार अपने अतीत में प्रवेश कर स्पष्ट रूप से जान लेता है कि इस शरीर से पहले वह किस रूप में मेरुप्रभ व सुमेरुप्रभ हाथी के रूप में अपनी जीवन यात्रा तय कर रहा था।

मेघ के जातिस्मरण का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

तस्स णं मेहस्स.... सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेण ईहा.... सण्णिपुव्वे जाइसरणे समुप्पण्णे।

अर्थात अपने पूर्व-भवों को भगवान महावीर से सुनकर मेघ को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्ध होती लेश्याओं व ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से जातिस्मृति हुई।

मेघ अपनी विचलित मनःस्थिति के साथ महावीर के सम्मुख उपस्थित होते हैं। जातिस्मृति से धर्म के प्रति श्रद्धा और संवेग में सहज वृद्धि होती है। इस यथार्थ अनुभव के आधार पर महावीर ने मेघ के अतीत का वर्णन किया। स्वयं मेघ के मोहनीय कर्म का उपशम, अध्यवसाय शुद्धि, विशुद्ध-लेश्या का योग मिला और जातिस्मृति की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। जैसे ही मेघ ने मेरुप्रभ हाथी का नाम सुना, पूर्वस्मृति के लिए प्रारंभिक मानसिक चेष्टा—ईहा में वह प्रवृत्त हो गया। उसके बाद अपोह हुआ—क्या मैं हाथी था? यह तर्कणा (मीमांसा) करते हुए, वह मार्गणा में प्रविष्ट हुआ। अपने अतीत का अन्वेषण करने के लिए वह अपने द्वारा अनुभूत अतीत की सीमा में प्रवेश कर गया। अतीत का चिंतन करते-करते उसने गवेषणा प्रारंभ की। जैसे आहार की अन्वेषणा में प्रवृत्त गाय पूर्व-प्राप्त आहार के स्थान को प्राप्त कर लेती है। वैसे ही गवेषणा करते हुए मेघ मुनि को एकाग्र अध्यवसाय से हाथी के रूप में अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो गई।

अतीत-दर्शन की यह स्थिति जैन दर्शन के अनुसार केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। पशु-पक्षियों में भी कुछ विशेष कारणों से ईहा-पोह आदि करते हुए इस अतींद्रिय क्षमता का विकास हो सकता है।

बावड़ी के पास स्थित दर्दुर एक ही दिशा में जाते लोगों को देखता है। मन में चिंतन उभरता है—सब एक ही दिशागामी क्यों? आते-जाते लोगों की बातचीत से समाधान मिलता है—सब भगवान महावीर की वंदनार्थ जा रहे हैं। तत्काल दिमाग में एक तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। चिंतन एक ही दिशा में विशेष गहराई में जाता है और जातिस्मृति ज्ञान हो जाता है।

कहा जा सकता है कि अतीत-दर्शन के आधार पर पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को व्याख्यायित करने वाली विविध घटनाएं व्यक्ति को एक विशेष मोड़ पर लाकर खड़ा कर देती हैं। व्यक्ति आत्मा और कर्म, इनके संबंध एवं आत्म-कर्तृत्व के संबंध में विशेष रूप से सोचना शुरू कर देता है। यह सोच ही आगे जाकर मुक्ति के पथ को प्रशस्त कर देती है। ❖

हमारे यहां प्रकृति का बहुत व्यापक अर्थ लिया गया है। संसार की कोई ऐसी चीज नहीं है जो प्रकृति से अलग हो। तो हमारा घर और परिवार भी पर्यावरण है। पर्यावरण की हमारी शास्त्रीय परंपरा भी यही रही है कि प्रत्येक मनुष्य पर्यावरण में ही पैदा होता है, पर्यावरण में ही जीता है और पर्यावरण में ही लीन हो जाता है।

—डॉ. छगन मोहता

अनुभूति

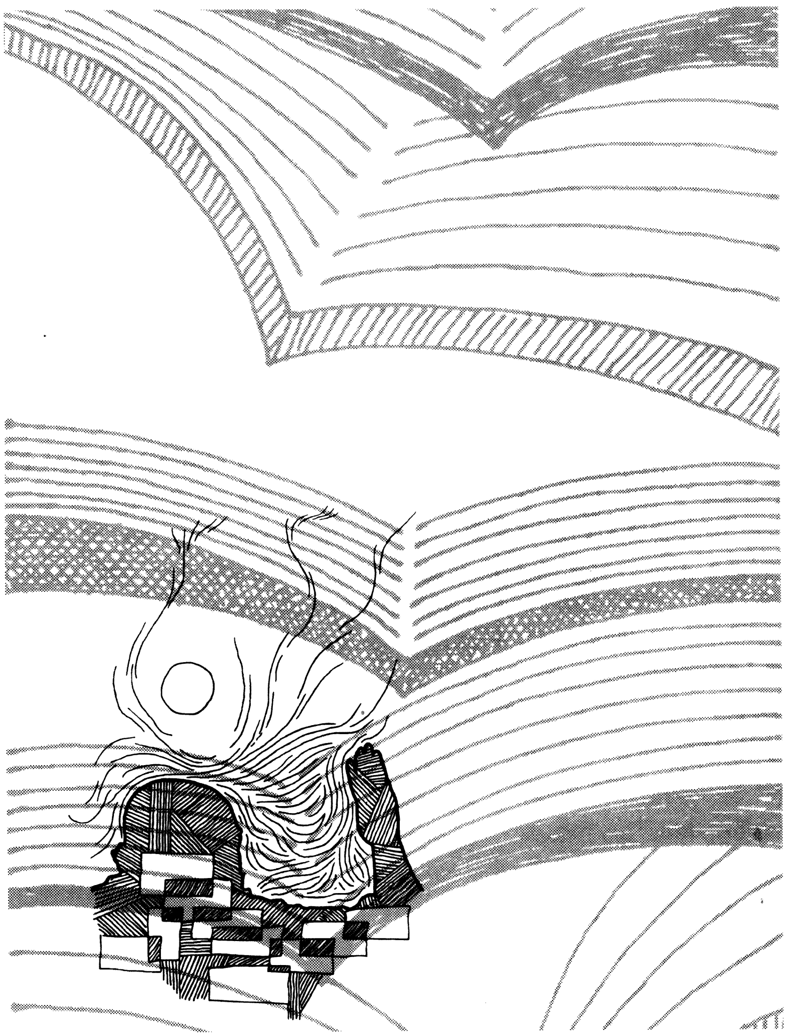

ओ चिर नीरव!
मैं सरित विकल,
तेरी समाधि की सिद्धि अकल,
चिर निद्रा में सपने का पल,
ले चली लास में लय गौरव।

× × ×

मैं ऊर्मि विरल,
तू तुंग अचल, वह सिंधु अतल,
बांधे दोनों को मैं चल-चल,
धो रही द्वैत के सौ कैतव।
मैं गति विह्वल,
पाथेय रहे तेरा दृग-जल,
आवास मिले भू का अंचल,
मैं करुणा की वाहक अभिनव।

—महादेवी वर्मा

संकीर्ण धार्मिक व्यक्ति धर्म की उन्नति के बदले धर्म की अवनति ही करने वाले हैं। वे धर्म के मौलिक तथ्य से अभी कोसों दूर हैं। जिन धार्मिक व्यक्तियों में संकीर्णता व असहिष्णुता घर कर गई है, वे सपने में भी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। घर पर आए किसी अभ्यागत का तिरस्कार करना इस बात का सूचक है कि धर्म अभी तक असलियत में आत्मा में नहीं उतरा है। धर्म कभी नहीं सिखाता कि किसी के साथ अनुचित व अशिष्टतापूर्ण व्यवहार किया जाए। अतीत में भारत की जो प्रतिष्ठा थी, जो उसका गौरव था, वह इसलिए नहीं था कि भारत एक धनाढ्य व समृद्धिशाली देश था और न वह इसलिए ही था कि यहां कुछ विस्मयोत्पादक आविष्कारक तथा शक्तिशाली राजा-महाराजा व सम्राट थे। इसका जो गौरव था, वह इसलिए था कि यहां के कण-कण में धर्म, सदाचार, नीति, न्याय और आत्म-नियंत्रण की पावन-पुनीत धारा बहती रहती थी।

❑

राष्ट्रनिर्माण और धर्म

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न है कि कौन-सा धर्म; क्या जैन धर्म, क्या बौद्ध धर्म, क्या वैदिक धर्म? धर्म का जो स्वरूप बताया गया है, वह जैन, बौद्ध या वैदिक संप्रदाय से संबद्ध नहीं है। उसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है। जिस व्यक्ति में यह त्रयात्मक धर्म अवतरित हुआ है, उस व्यक्ति के चरणों पर देव और देवेंद्र अपने मुकुट रखते हैं। एक असांप्रदायिक विशुद्ध धर्म का यही स्वरूप है। कहा भी है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति,
जस्स धम्मे सयामणो।।

आप पूछेंगे कि किस संप्रदाय के धर्म को अच्छा मानें। मैं कहूंगा कि संप्रदाय धर्म नहीं हैं, वे तो धर्म-प्रचारक संस्थाएं हैं। जो धर्म जीवन-शुद्धि का मार्ग दिखलाता है, वास्तव में वही धर्म मुझे मान्य है; उस धर्म के उपदेष्टा और प्रवर्तक चाहे कोई भी क्यों न हों। जीवनकारक धर्म सनातन और अपरिवर्तनशील है। वह धर्म मुझे सहर्ष ग्राह्य है।

हम सब आत्म-निर्माण, व्यक्ति-निर्माण और जन-निर्माण की दृष्टि से धर्म की उपयोगिता और औचित्य पर बात करते हैं। राष्ट्र-निर्माण का पहलू जोड़कर भी धर्म-विशालता को कसौटी पर उपस्थित करना चाहिए। यह विचार करते हुए सबसे पहले यह प्रश्न खड़ा होता है कि राष्ट्र-निर्माण कहते किसे हैं? क्या

छ दशक से अधिक समय तक एक धर्माचार्य के पद पर आरूढ़ रहने वाले आचार्यश्री तुलसी विश्व की उन महान विभूतियों में से हैं जिन्होंने धार्मिक संकीर्णता से विरत रह जन-जन में धर्म को जीवनानुभूति के रूप में प्रतिष्ठापित किया। जन-जन की जीवनचर्या में धर्म का समावेश उनका उद्देश्य रहा और इसीलिए नैतिक पुनरुत्थान के लिए 'अणुव्रत आंदोलन' का प्रादुर्भाव किया। आषाढ़ कृष्णा तृतीया, संवत 2054 को गंगाशहर (बीकानेर) में उन्होंने अपनी देह का परित्याग कर दिया। संवत 2062 की इस आषाढ़ कृष्णा तृतीया (24 जून, 2005) को उनका नौवां महाप्रयाण दिवस है। इस महामानव का पुण्य-स्मरण करते हुए उन्हीं का यह आलेख जैन भारती के पाठकों के लिए—

❑ महाप्रयाण दिवस ❑
महामानव को विनम्र नमन

राष्ट्र की सीमाएं बढ़ा देना राष्ट्र-निर्माण है; क्या संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण व संग्रह राष्ट्र-निर्माण है; क्या नए-नए भौतिक व वैज्ञानिक आविष्कार करना राष्ट्र-निर्माण है; क्या सोना-चांदी और रुपए-पैसों का संचय करना राष्ट्र-निर्माण है; क्या अन्य राष्ट्रों व अन्यान्य शक्तियों को कुचलकर अपनी शक्ति का सिक्का उन पर जमा लेना राष्ट्र-निर्माण है? यदि इन्हीं से राष्ट्र-निर्माण होता है तो मैं दृढ़तापूर्वक कहूंगा कि यह राष्ट्र-निर्माण नहीं, यह विध्वंस है, और प्रकारांतर से विनाश भी। राष्ट्र के निर्माण में धर्म सहायक हो सकता, पर ऐसे राष्ट्र-निर्माण से धर्म का संबंध कभी नहीं होना चाहिए। राष्ट्र के बाहरी कलेवर का नहीं, उसकी आत्मा का निर्माता धर्म है। राष्ट्र के जन-जन में फैली हुई बुराइयों और विकृतियों को हृदय-परिवर्तन के द्वारा मिटाने में धर्म की भूमिका निर्विवाद मानी जा सकती है। जिस धर्म की विवेचना हम करना चाहते हैं, राष्ट्र के निर्माण में उसका सहयोग इसी रूप में हो सकता है।

धर्म से क्या चाहते हैं

धर्म की आज क्या स्थिति है और किस रूप में वह प्रयुज्य है? मेरी दृष्टि में यह एक भयंकर भूल है कि लोग अच्छा या बुरा सब-कुछ धर्म के द्वारा ही पाना चाहते हैं। अच्छा काम हुआ तो मनुष्य बड़े गर्व से कहेगा कि मैंने किया है और बुरा काम हो जाता है तो कहा जाता है कि परमात्मा की *ऐसी ही मर्जी थी। आगे देखकर न चलने* वाला पत्थर से टक्कर खाने पर कहेगा कि किस बेवकूफ ने रास्ते में पत्थर लाकर रख दिया, मगर वह इस ओर ध्यान ही नहीं देता कि मेरे न देखकर चलने का ही यह परिणाम है। लोगों की आदत ही ऐसी है कि दोष अपने पर ओढ़ना ही नहीं चाहते, दूसरों के सिर पर ही मढ़ना चाहते हैं।

मुझे एक छोटी-सी बात याद आ रही है।

एक व्यक्ति को संयोग से कामकुंभ मिल गया। कहा जाता है कि कामकुंभ से जो-कुछ भी मांगा जाता है, वह सब मिल जाता है। उसने सोचा कि मकान, वस्त्र, सोना, चांदी आदि अच्छी चीजें तो इससे मिलती ही हैं, पर शराब भी मिलती है या नहीं, यह देखना चाहिए। उसने कामकुंभ से ज्योंही शराब मांगी, शराब से छलाछल भरा प्याला त्योंही उसके सामने आ गया। अब उसने सोचा कि शराब तो ठीक, इसमें नशा भी है या नहीं, जरा पीकर परीक्षा तो करूं। पीने के बाद जब नशा चढ़ा और मस्ती आई, तब उसने सोचा कि नयनाभिराम नृत्य के बिना तो सब-कुछ फीका है। विलंब क्या था? कामकुंभ के प्रभाव से वह भी होने लगा। तब उसने सोचा कि देखूं, इस कामकुंभ को मैं सिर पर रखकर नाच सकता हूं या नहीं। आखिर होना क्या था? कामकुंभ धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गया और जब उसकी आंखें खुलीं तो कामकुंभ के फूटे-बिखरे टुकड़ों के साथ-साथ उसे अपना भाग्य भी फूटे टुकड़ों में नजर आया।

कहने का तात्पर्य यह है कि लोग कामकुंभ से सब-कुछ पाने की तरह धर्म से भी सब-कुछ पाना चाहते हैं। धर्म किसी का बुरा करने या बुरा फल देने के लिए है ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का सुधार कर उसे पवित्र बनाने में ही धर्म की भूमिका हो सकती है और उसका इसी रूप में उपयोग होना चाहिए।

राष्ट्र और धर्म

राष्ट्र-निर्माण से धर्म का क्या संबंध है? वास्तव में राष्ट्र के आत्म-निर्माण का जहां तक सवाल है, वहां धर्म का राष्ट्र से गहरा संबंध है। मेरी दृष्टि में, मानव-समाज के अतिरिक्त राष्ट्र की दूसरी आत्मा संभव ही नहीं। मानव-समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्ति निर्माण ही धर्म का अमर उद्घोष है। इस दृष्टि से राष्ट्र-निर्माण का धर्म से सीधा संबंध है। राष्ट्र की आत्मा तभी स्वस्थ, मजबूत और *प्रसन्न रह सकती है, जब उसमें धर्म के तत्त्व* घुले-मिले हों।

धर्म और व्यवस्था

क्या राष्ट्र और क्या समाज, धर्म दोनों का निर्माता है। किंतु, जब राज्य-व्यवस्था व समाज-व्यवस्था में उसका हस्तक्षेप शुरू होता है, तब राज्य और समाज—दोनों में भयंकर गड़बड़ी का सूत्रपात होने लगता है। इसके साथ ही धर्म के प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं। लोगों की मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि साधारण-से-साधारण कार्य में भी धर्म की मोहर लगा दी जाती है। किसी को जल पिला दिया या किसी को भोजन करा दिया, बस, इतने मात्र से बहुत बड़ा धर्मोपार्जन कर लिया! यह क्या है? इसमें भी धर्म की दुहाई दी जाती है। धर्म को ऐसे संकीर्ण धरातल पर क्यों घसीटा जाता है? ये सब धर्म के धरातल से बहुत नीचे, एक साधारण व्यवस्था और नागरिक कर्तव्य की बातें हैं। व्यवस्था और धर्म को मिलाने से जहां धर्म का अहित होता है, वहीं व्यवस्था भी लड़खड़ा जाती है। धर्म है—व्यवस्था

और सामाजिक कर्तव्य से बहुत ऊपर आत्म-निर्माण की शक्ति। भौतिक शक्तियों की अभिवृद्धि के साथ उसका कोई संबंध नहीं और न उसका यह लक्ष्य ही है कि वे मिलें। आज राजनीतिक नेता यह आवाज बुलंद अवश्य करने लगे हैं कि धर्म को राजनीति से परे रखा जाए, पर वास्तव में ऐसा नहीं हो रहा। लोगों को सजग व सचेत रहना चाहिए कि ऐसा न होने पाए।

धर्म-निरपेक्ष या कि संप्रदाय-निरपेक्ष

हमारे संविधान में भारत राष्ट्र को धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र बताया गया है। इस बारे में अनेक भ्रांतियां और उलझनें फैली हुई हैं। इसका अर्थ नास्तिक राष्ट्र के रूप में भी किया जाता है। जब संविधान-विशेषज्ञों से चर्चा हुई, तब बताया कि लोग इस शब्द का जैसा अर्थ करते हैं, वास्तव में वैसा अर्थ है ही नहीं। इसका मतलब यह है कि यह राज्य-राष्ट्र किसी धर्म संप्रदाय-विशेष का न होकर, समस्त धर्म-संप्रदायों का समान आदर करने वाला राष्ट्र-राज्य है। वास्तव में यह ठीक है। भारत में लगभग एक हजार धर्म और संप्रदाय प्रचलित हैं। अगर किसी धर्म-संप्रदाय-विशेष का राज्य स्थापित हो जाए तो मार्ग सम न होकर बड़ा विषम व कंटकाकीर्ण बन जाएगा। इतने धर्म-संप्रदायों में किसी धर्म-संप्रदाय-विशेष पर यह सेहरा बांधना अनेक जटिल समस्याओं को खुला आमंत्रण है। ऐसा होना ही नहीं चाहिए। धर्म को राज्य के संकीर्ण व परिवर्तनशील फंदे में फंसाने का अर्थ है—धर्म और राज्य को भयंकर खतरे के मुंह में ढकेलना। ये दो अलग-अलग धाराएं हैं और दोनों का अलग-अलग अस्तित्व और महत्त्व है। दोनों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इन्हें मिलाकर एक करना न तो बुद्धिमत्ता है और न कल्याणकर ही। धर्म-निरपेक्ष राज्य कहने में जिन भ्रांतियों को अवकाश है, उनका निराकरण संप्रदाय-निरपेक्ष राज्य कहने से हो सकता है।

संकीर्णता न रहे

आज का एक सवाल यह भी है कि इतनी अधिक संख्या में अलग-अलग संप्रदाय क्यों प्रचलित हैं? क्या इन सबको मिलाकर एक नहीं किया जा सकता? सदा से जो अलग-अलग विचारधाराएं चली आ रही हैं, उन सबको खत्म कर एक कर दिया जाए—यह बुद्धि और कल्पना से परे है। मैं इस विषय में ऐसा मानता हूं कि पारस्परिक विचार-भेद हटना यदि संभव न हो, तो जो पारस्परिक मनभेद और विग्रह हैं, उन्हें तो अवश्य मिटाना चाहिए। उन्हें मिटाए बिना धार्मिक व्यक्ति संसार को क्या दें और क्या लें—इसका निर्णय कैसे करेंगे? संकीर्ण धार्मिक व्यक्ति धर्म की उन्नति के बदले धर्म की अवनति ही करने वाले हैं। वे धर्म के मौलिक तथ्य से अभी कोसों दूर हैं। जिन धार्मिक व्यक्तियों में संकीर्णता व असहिष्णुता घर कर गई है, वे सपने में भी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। घर पर आए किसी अभ्यागत का तिरस्कार करना इस बात का सूचक है कि धर्म अभी तक असलियत में आत्मा में नहीं उतरा है। धर्म कभी नहीं सिखाता कि किसी के साथ अनुचित व अशिष्टतापूर्ण व्यवहार किया जाए। अतीत में भारत की जो प्रतिष्ठा थी, जो उसका गौरव था, वह इसलिए नहीं था कि भारत एक धनाढ्य व समृद्धिशाली देश था और न वह इसलिए ही था कि यहां कुछ विस्मयोत्पादक आविष्कारक तथा शक्तिशाली राजा-महाराजा व सम्राट थे। इसका जो गौरव था, वह इसलिए था कि यहां के कण-कण में धर्म, सदाचार, नीति, न्याय और आत्म-नियंत्रण की पावन-पुनीत धारा बहती रहती थी। सत्य और ईमानदारी यहां के अणु-अणु में कूट-कूटकर भरी हुई थी। तभी तो बाहर के लोग धर्म-नीति का अध्ययन करने के लिए यहां पर आने के लिए विशेष उत्सुक व लालायित रहते थे। आज प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह विचार करे कि हम उस समृद्धिशाली विश्वगुरु भारत की संतानें आज अपनी वह मूल पूंजी संभाले हुए हैं या नहीं? यदि भारतीय लोग अपनी मूल पूंजी को ही भूल बैठेंगे तो क्या यह उनके लिए विडंबना की बात नहीं होगी? अगर यही स्थिति रही तो मुझे कहने दीजिए कि धार्मिक व्यक्ति अपनी इज्जत और शान, दोनों, गंवा बैठेंगे।

धर्म और लौकिक अभ्युदय

वास्तव में धर्म है क्या? मैं बहुत थोड़े और सरल शब्दों में बताऊं तो धर्म है—आत्मशुद्धि का साधन। इस पर प्रतिप्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर लौकिक अभ्युदय की सिद्धि के साधन क्या हैं? कहीं-कहीं धर्म की परिभाषा में लौकिक अभ्युदय के साधनों को भी धर्म बताया गया है। मेरी दृष्टि में लौकिक अभ्युदय का साधन धर्म नहीं है। वह तो धर्म का आनुषंगिक फल है। लौकिक अभ्युदय उसे ही माना गया है, जिससे आत्मातिरिक्त सामग्री का विकास होता हो। गहराई से सोचा जाए तो इसके लिए धर्म की कोई स्वतंत्र आवश्यकता है ही नहीं। जिस प्रकार गेहूं की खेती

करने से भूसी उसके साथ अपने-आप पैदा हो जाती है, उसके लिए अलग से खेती करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार धर्म तो आत्मशुद्धि के लिए ही किया जाता है, उसके साथ लौकिक अभ्युदय अपने-आप फलने वाला है।

लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म

प्राचीन साहित्य में धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उस समय धर्म शब्द अत्यंत लोकप्रिय था। इसलिए जो-कुछ अच्छा लगा, उसी को धर्म शब्द से संबोधित कर दिया गया। यही कारण है कि सामाजिक कर्तव्य और व्यवस्था के नियमों को भी ऋषि-महर्षियों ने धर्म कहकर पुकारा। जैन साहित्य में स्वयं भगवान महावीर ने दस प्रकारों का निरूपण करते हुए उन्हें 'धर्म' शब्द से अभिहित किया है। उन्होंने बताया कि जो ग्राम की मर्यादाएं व प्रथाएं हैं, उन्हें निभाना ग्राम-धर्म है। इसी प्रकार नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का विवेचन है। यद्यपि तत्त्वतः धर्म वही है, जिसमें आत्म-शुद्धि और आत्म-विकास हो, मगर धर्म शब्द की तात्कालिक व्यापकता को देखते हुए सामाजिक रीति-रिवाजों को भी लौकिक-धर्म बताया गया है। लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म सर्वथा पृथक-पृथक हैं। उनका मिश्रण करना दोनों को गलत व कुरूप बनाना है। लौकिक धर्म जहां परिवर्तनशील है, वहीं पारमार्थिक धर्म सर्वदा, सर्वत्र अपरिवर्तनशील व अटल है। आज जिसे हम राष्ट्र-धर्म कहते हैं, वह राष्ट्र की परिवर्तित स्थितियों के अनुसार परिवर्तित हो सकता है। स्वतंत्र होने से पूर्व भारत में जो 'राष्ट्र-धर्म' माना जाता था, आज वह भिन्न माना जा सकता है। पारमार्थिक धर्म कभी और कहीं नहीं बदलता। वह जो कल था, वही आज है और जो आज है, वही आगे रहेगा। उसका स्वरूप सत्य-अहिंसामय है। लौकिक धर्म अलग-अलग राष्ट्रों के अलग-अलग हैं, जबकि पारमार्थिक धर्म सब राष्ट्रों के लिए एक-समान है। इस आधार पर यह कहना चाहिए कि लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म दो हैं और भिन्न-भिन्न हैं। पारमार्थिक धर्म की गति आत्म-विकास की ओर है, जबकि लौकिक धर्म का संबंध संसार से जुड़ा हुआ है।

राष्ट्र-निर्माण में धर्म किस प्रकार सहायक हो सकता है, इसके लिए धर्म कुछ सूत्रों का प्रतिपादन करता है। वे हैं—आत्म-स्वतंत्रता, आत्म-विजय, अदीन-भाव, आत्म-विकास और आत्म-नियंत्रण। इन सूत्रों का जितना विकास होगा, राष्ट्र उतना ही स्वस्थ और विकसित बनेगा। धर्म के अभाव में इन सूत्रों का उन्नयन नहीं किया जा सकता। एक समय था, जब पद के लिए मनुहारें होती थी, फिर भी कहा जाता था कि मुझे पद नहीं चाहिए, मैं इसके योग्य नहीं हूं। पर, आज कहा जाता है कि यह कुर्सी मेरी है, तुम्हारी नहीं। पद के योग्य मैं हूं, तुम नहीं। पद पाने के लिए सब अपने-अपने अधिकारों की चर्चा करते हैं, मगर यह कोई नहीं कहता कि पद के योग्य अमुक व्यक्ति है। पद-लोलुपता का यह रोग धर्म को न अपनाने और भौतिकवाद को जीवन में स्थान देने का ही दुष्परिणाम है। एक समय था, जब पद की लालसा रखने वालों को निंद्य, अयोग्य और अनधिकारी समझा जाता था तथा पद न चाहने वालों को प्रशंस्य, योग्य और अधिकारी। इस संदर्भ में एक प्राचीन घटना-प्रसंग द्रष्टव्य है—

एक बार किसी देश में पांच सौ सुभट आए। मंत्री ने परीक्षा करने के लिए रात के समय सबको एक विशाल हॉल में भेज दिया और कहा कि आप में से जो सबसे बड़ा हो, वह हॉल के बीच में बिछे पलंग पर तथा अन्य सब नीचे जमीन पर सोएं। सोने का समय आने पर उनमें बड़ा संघर्ष छिड़ गया। पलंग पर सोने के लिए वे अपनी-अपनी योग्यता और अधिकारों की दुहाइयां देने लगे। पूरी रात बीत गई, किंतु एक मिनट भी वे नहीं सो पाए। रात-भर आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहे। प्रातःकाल मंत्री ने उनका किस्सा सुनकर उन्हें उसी समय वहां से निकाल दिया। दूसरे दिन अन्य पांच सौ सुभट आए। मंत्री ने उनके लिए भी वही व्यवस्था की। उनके सामने समस्या यह थी कि पलंग पर कौन सोए। परस्पर मनुहारें होने लगीं। किसी ने कहा कि मेरी बुद्धि कम है तो किसी ने कहा कि मुझमें प्रशासन-क्षमता नहीं है। आखिर किसी ने पलंग पर सोना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विचार किया कि नींद क्यों खराब की जाए। सबको पलंग की ओर सिर करके सो जाना चाहिए। और ऐसा ही हुआ। सब सो गए और उन्होंने रात-भर खूब आनंद से नींद ली। प्रातःकाल मंत्री ने सारा किस्सा सुनकर उन्हें बड़े सत्कार के साथ बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त किया।

पद के प्रति आकर्षण कम हुए बिना राष्ट्र-निर्माण कैसे हो सकता है? महाभारत में लिखा है—

बहवो यत्र नेतारः, सर्वे पंडितानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, तद्राष्ट्रमवसीदति।।

—जिस राष्ट्र में सब व्यक्ति नेता बन बैठते हैं, सब-के-सब अपने-आपको पंडित मानते हैं और बड़े बनना चाहते हैं, वह राष्ट्र अवश्य दुखी रहेगा।

भारत की स्थिति करीब-करीब ऐसी ही नहीं हो रही है? इसलिए राष्ट्र की बुराइयां मिटाने के लिए सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता की अत्यंत आवश्यकता है। जब तक सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता जीवन का मूलमंत्र नहीं बन जाते, तब तक राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता।

धर्म के नाम से कोई चिढ़ें नहीं। कल्याण का एकमात्र साधन धर्म है। उसके नाम पर फैली हुई बुराइयां मिटाना आवश्यक है, न कि धर्म को। धर्म का वास्तविक स्वरूप समझकर उसके मुख्य अंग—अहिंसा, सत्य और संतोष की भित्ति पर राष्ट्र-निर्माण का महान कार्य संपन्न किया जा सकता है। यदि ऐसा हुआ तो राष्ट्र सुखी, संपन्न व विकसित होगा। धर्म का वास्तविक रूप भी तभी निखरेगा। जन-जन को नई प्रेरणा तभी प्राप्त हो सकेगी। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

फोन : 22357956, 22343598 फैक्स : 033-22343666

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन-2005

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में युगप्रधान श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सान्निध्य व युवा मनीषी युवाचार्यश्री महाश्रमण के दिशा-निर्देशन में तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन-2005 का त्रिदिवसीय आयोजन 13, 14, 15 अगस्त, 2005 को दिल्ली में आयोजित किया जा रहा है।

इस सम्मेलन में संघीय एवं सामाजिक गतिविधियों, महासभा की प्रवृत्तियों व योजनाओं, स्वस्थ समाज की संरचना में सभाओं का दायित्व, कार्यकर्ताओं की सक्षम भूमिका एवं अन्य सामयिक विषयों के संबंध में गहन चिंतन-मनन होगा।

सभी तेरापंथी सभाओं से चार अधिकृत प्रतिनिधि भेजने हेतु सादर निवेदन है ताकि कुछ सार्थक चर्चाएं एवं ठोस निर्णय किए जा सकें। सभी एफिलिएटेड तेरापंथी सभाओं को उक्त संबंधी परिपत्र तथा पंजीकरण पत्र भेजा जा चुका है। पंजीकरण पत्र यथाशीघ्र भरकर महासभा प्रधान कार्यालय, कोलकाता को प्रेषित करने की कृपा करें, ताकि समुचित व्यवस्था की जा सके।

सुरेन्द्र चौरड़िया — अध्यक्ष
भंवरलाल सिंघी — संयोजक
तरुण सेठिया — महामंत्री

हमारी सारी इंद्रियां बाहर की तरफ जाती हैं। ये सब पदार्थ को देखने के लिए हैं। स्वयं को देखने के लिए इंद्रियों की जरूरत नहीं होती। लौटाने का अर्थ इतना ही है कि जो ऊर्जा आंख से बाहर जाती है, वह बाहर न जाए। कान बाहर की न सुने। यदि कोई ज्ञान इंद्रियों के मार्फत हो तो वह परोक्ष ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि आत्मज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि आत्मा स्वयं-प्रकाशित है, उसे इंद्रियों के प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्मा को जानने में शरीर का कोई उपयोग नहीं—अंधा हो या आंख वाला, बहरा हो या सुनने वाला, काला हो कि गोरा, निर्बल हो कि सबल। दूसरों को जानना हो तो शरीर का उपयोग है। स्वयं को जानने के लिए, आत्मा या परमात्मा को जानने के लिए इंद्रियों की जरूरत नहीं है। केवल इन्हें बाहर जाने से रोकने की जरूरत है, इन्हें शांत करने की जरूरत है।

अप्पा अप्पम्मि रओ

❑ चतरसिंह मेहता ❑

माना जाता है कि शरीर की तीन परते हैं—शरीर, मन और आत्मा। यह भी कह सकते हैं कि अपने मकान में तीन खंड हैं। हम प्रायः दो खंडों में ही जीवन बिता देते हैं और तीसरे से अपरिचित रह जाते हैं। दहलान में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं और आत्मा के आंतरिक कक्ष से अपरिचित ही रह जाते हैं, जहां हमें वास्तविक तौर पर होना चाहिए। पहली परत पर पाप ही पाप हैं। तीसरी परत पर सभी निष्पाप हैं। दोनों के बीच में मन है, जहां सब मिश्रित हैं—पाप और निष्पाप; इसलिए मन हमेशा डावांडोल रहता है। वह सोचता है, यह करूं, यह नहीं करूं, अच्छा होगा कि बुरा होगा! दुख मिटाने की कोशिश करता है, पर मिटते नहीं। दो परतों में जीने वालों के दुख मिट नहीं सकते, क्योंकि सुख कुछ पाने से नहीं मिलता है। दुख का एक ही कारण होता है—आंतरिक केंद्र से च्युत होना। तीसरे खंड का जिसे परिचय नहीं हो, उसका ज्ञान नहीं हो, तो उसके लिए दुख निश्चित है। अतः तीसरे तत्त्व की खोज जरूरी है। पुरुषोत्तम सदा भीतर खड़ा है। बहुत पास है। जरा-सी चेष्टा से उसका स्वर सुनाई दे सकता है। यदि वह सुनाई पड़ जाए तो जो शरीर ने, मन ने करने की ठानी हुई होती है, उसमें बदलाव आ जाए।

भीतर का द्रष्टा

कठोपनिषद् में यम नचिकेता से कहते हैं—'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्परांपश्यति मान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।' अर्थात् 'स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर ने समस्त इंद्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले ही बनाए हैं, इसलिए मनुष्य इंद्रियों के द्वारा प्रायः बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अंतरात्मा को नहीं। किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरपद को पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटा कर अंतरात्मा को देखा है।' हमारी सारी इंद्रियां बाहर की तरफ जाती हैं। ये सब पदार्थ को देखने के लिए हैं। स्वयं को देखने के लिए इंद्रियों की जरूरत नहीं होती। लौटाने का अर्थ इतना ही है कि जो ऊर्जा आंख से बाहर जाती है, वह बाहर न जाए। कान बाहर की न सुने। यदि कोई ज्ञान इंद्रियों के मार्फत हो तो वह परोक्ष ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि आत्मज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि आत्मा स्वयं-प्रकाशित है, उसे

इंद्रियों के प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्मा को जानने में शरीर का कोई उपयोग नहीं—अंधा हो या आंख वाला, बहरा हो या सुनने वाला, काला हो कि गोरा, निर्बल हो कि सबल। दूसरों को जानना हो तो शरीर का उपयोग है। स्वयं को जानने के लिए, आत्मा या परमात्मा को जानने के लिए इंद्रियों की जरूरत नहीं है। केवल इन्हें बाहर जाने से रोकने की जरूरत है, इन्हें शांत करने की जरूरत है। जब नचिकेता ने परमात्मा के बारे में पूछा तो यम का यही उत्तर था कि तुम्हारे भीतर छिपा चैतन्य है, जो बोध की शक्ति है, वह जो तुम्हारे जीवन का मूल है—यही है वह परमात्मा जिसके लिए तूने पूछा है। आत्मा या परमात्मा की तो यही व्याख्या है कि वह भीतर का द्रष्टा है।

एक हि साधे सब सधे

याज्ञवल्क्य महान पंडित थे। उनके दो पत्नियां थीं—मैत्रेयी और कात्यायिनी। एक दिन याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा—देखो, मैं गृहस्थाश्रम में पड़े नहीं रहना चाहता हूं, जो भी संपत्ति है उसका दोनों पत्नियों में बंटवारा कर दूं। मैत्रेयी ने कहा—भगवन, अगर यह सारी पृथ्वी वित्त से पूर्ण होकर मेरी हो जाए तो क्या मैं अमर हो जाऊंगी। याज्ञवल्क्य ने कहा—तू मेरी प्रिय है, मैं सब खोल कर समझाता हूं। उसने कहा—किसी भी कामना के पीछे आत्मा की कामना के लिए ही सब-कुछ प्रिय होता है। जब वह आत्मा देखी जाती है, सुनी जाती है, विचारी जाती है, जानी जाती है, तब सब-कुछ जान लिया जाता है।

उपनिषद् कहते हैं कि एक को जानने से सब जान लिया जाता है। जो सबको जानने में लगा रहता है, वह उस एक से भी वंचित रह जाता है। जिस पर सब खड़ा है वही देखने योग्य है। कहते हैं एक सम्राट विजय यात्रा से लौट रहा था। उसके कई रानियां थीं। उसने हर पत्नी से पुछवाया कि तू जो चाहती है वह ले आऊंगा। सभी रानियों ने चीजों की लंबी सूची भेजी। एक पत्नी ने कोरा कागज भेजा और साथ में एक पत्र भेजा कि तुम्हारे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिए। संयोग से ऐसा हुआ कि जिस जहाज से सम्राट लौट रहा था, वह डूब गया पर वह जैसे-तैसे किनारे लग गया। जिन पत्नियों ने संसार की चीजें मांगी थी उनके हाथ कुछ भी नहीं आया। जिसने सम्राट को ही मांगा था उसके हाथ सब आ गया। आखिर में वही होता है कि जब नाव डूबती है तब संसार की सब वस्तुएं डूब जाती हैं। यदि मालिक को खोज लिया तो नाव डूबे या न डूबे, कोई फर्क नहीं पड़ता। मौत में सभी नावें डूब जाती हैं, जो भी इकट्ठा किया होता है, वह किसी काम का नहीं रहता। इसीलिए याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि उस एक को जान ले जो तेरे भीतर छिपा है, जो साथ जाएगा, भविष्य के जीवन का आधार बनेगा, मुक्ति का साधन होगा। बाकी सब व्यर्थ है।

आत्मा अस्तित्व है

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—**न जायते म्रियते वा कदाचिन्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यं शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**—यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी वह नष्ट नहीं होता है। जो भी हमने देखा है, जिसकी भी पहचान है वह सब जन्मता है और मरता है। इन सबके पीछे कोई अज्ञात सूत्र जरूर है जो दिखता नहीं है पर है जरूर, जो न जन्मता है और न मरता है। इसे अस्तित्व कहें, प्रकृति कहें, आत्मा कहें, परमात्मा कहें या कोई और। सिनेमा देखते हैं। वह छाया और प्रकाश का जोड़ है, आता है, जाता है, पर इसके लिए पर्दा चाहिए। जब फिल्म दौड़ती है तो पर्दा दिखाई नहीं पड़ता। पर्दा न हो तो रूप ही न आए। दौड़ती आकृति के पीछे थिर पर्दा होता है। सारा जीवन ही ऐसे चित्रों का फैलाव है। पर्दे की तरह जो पीछे खड़ा है उसे ही श्रीकृष्ण अस्तित्व कहते हैं जो न जन्मता है, न मरता है।

कहते हैं, सिकंदर जब भारत से लौट रहा था तो उसने चाहा कि वह अपने साथ एक साधु को ले जाए। उसने विचारशील व्यक्ति से सलाह की तो उसने कहा कि जो चला जाए वह साधु नहीं होगा और जो साधु है उसका जाना मुश्किल है। सिकंदर ने कहा—यह क्या बात है, सिकंदर चाहे तो सारे मुल्क को यूनान पहुंचा दे। उस विचारशील व्यक्ति ने कहा, कोशिश कर लें। एक साधु की खबर लगी। सिकंदर ने अपने सेनापति को भेजा। सेनापति ने जाकर कहा कि महान सिकंदर की आज्ञा है कि आप हमारे साथ चलें, पूरा सम्मान देंगे, आपको यूनान ले जाना है। उस साधु ने कहा कि सिकंदर को कहना कि हम सिवाय अपनी आज्ञा के किसी की आज्ञा से नहीं चलते। सेनापति ने कहा कि आप भूल करते हैं। वे तलवार के बल से भी ले जा सकते हैं। उस साधु ने कहा कि जिसे तुम

तलवार के बल से ले जा सकते हो, बहुत समय हुआ हम उसे छोड़ चुके हैं। सिकंदर खुद नंगी तलवार लेकर आया। साधु ने कहा—तलवार म्यान में रख दो क्योंकि सामने जो है उसके लिए तलवार बेकार है। सिकंदर ने कहा कि आपको चलना है, वरना हम आपको समाप्त कर देंगे। साधु ने कहा—जिसे तुम समाप्त करोगे उसे हम भी समाप्त हुआ देखेंगे, हम भी साक्षी होंगे। जिस तरह तुम मुझे कटता हुआ देखोगे, उस भांति मैं भी कटते हुए देखूंगा, क्योंकि जिसको तुम काटोगे, वह मैं नहीं हूं। मैं अलग हूं, मैं पीछे हूं।

श्रीकृष्ण भी शरीर की बात नहीं करते हैं। शरीर तो कटता है, छिदता है, बीमार होता है, नष्ट होता है पर आत्मा इस सब से परे है। पर हम हमेशा शरीर को ही 'मैं' समझते हैं। 'मैं' को छोड़कर जो पीछे शेष रह जाता है वह आत्मा है। 'मैं' के पीछे जो अस्तित्व है, जो दिखाई नहीं पड़ता वही आत्मा है, दौड़ती आकृति के पीछे थिर पर्दा।

आत्मा स्वप्रकाशित

जगत में दो प्रकार की चीजें हैं। एक है पर-प्रकाशित। जहां लोग बैठे हैं, प्रकाश बंद हो जाए तो नहीं दिखेंगे अर्थात् दूसरा पर-प्रकाशित है। दूसरों को देखने, जानने के लिए एक और प्रकाश की जरूरत है। लेकिन कितना ही अंधेरा हो जाए, व्यक्ति खुद को तो मालूम पड़ता ही रहेगा। स्वयं की प्रतीति होने में दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, स्वयं को अपना पता तो चलता ही रहेगा। एक प्रसिद्ध सूफी हसन के जीवन की कहानी है। वह अपने गुरु के पास गया। दो और लोग उसी समय सत्य की खोज में उस गुरु के पास आए थे। उन तीनों ने गुरु से पूछा कि हम जानना चाहते हैं कि आत्मा क्या है। गुरु कबूतरों को दाना चुगा रहा था। उसने एक-एक कबूतर पकड़ कर तीनों को दे दिया और कहा कि ऐसी जगह जाओ, जहां कोई देखता न हो। वहां कबूतर की गर्दन मरोड़ कर आ जाओ। एक युवक गली में गया। वहां कोई नहीं था। कबूतर की गर्दन मरोड़ कर आ गया। दूसरा गली में गया और देखा कि प्रकाश है, शायद कोई दूर से देख भी ले, तो सोचा, रात का अंधेरा होने दो। रात को गली में जाकर कबूतर की गर्दन मरोड़कर आ गया और गुरु के चरणों में रख दिया। परंतु हसन का तीन दिन तक कोई पता नहीं चला। हसन गली में गया तो सोचा कोई देख लेगा। रात्रि के अंधेरे में देखा तो कबूतर की आंखें दिखाई पड़ती थी। उसने अपनी आंखों व कबूतर की आंखों पर पट्टी बांधी। फिर खयाल आया कि मैं तो जान ही रहा हूं, देख ही रहा हूं, जहां भी जाऊं देखता ही रहूंगा। कबूतर भी देखता ही रहेगा। कोई जगह ऐसी नहीं खोज पाया जहां कोई गवाह न हो। वह गुरु के पास गया और कहा कि मुझे आप क्षमा करें, मैं पहले पाठ में असफल हुआ। गुरु ने कहा—केवल तुम्हीं सफल हुए, ये दोनों असफल हो गए। आत्मज्ञान की दिशा में पहला पाठ यही है कि आत्मज्ञान स्वप्रकाशित है। चाहे कुछ भी करो, स्वयं को जानने को नहीं भुलाया जा सकता। आत्मा स्वप्रकाशित है, चेतना स्वप्रकाशित है, यह सूत्र तुम्हारे ध्यान में आ गया।

आत्मा से परमात्मा

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने कहा है कि चेतना के दो छोर हैं—एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। एक बीज और दूसरा विस्तार। बरगद का बीज छोटा होता है और बरगद के विस्तार को देखें, कितना बड़ा होता है। आत्मा बरगद का बीज है और परमात्मा उसका विकास। आत्मा का लक्ष्य है—परमात्मा होना। यह लक्ष्य आरोपित नहीं हो सकता। यह सहज ही होता है। पर उसकी सिद्धि में बहुत विघ्न हैं। उसके लिए आत्मा को लंबी यात्रा करनी होती है। इस यात्रा के पहले चरण में अस्तित्व का बोध होता है। आत्मा क्या है? वह कहां से आई है? वह कैसे उत्पन्न हुई? ये उलझे हुए प्रश्न हैं। इनका आदि बिंदु खोजना कठिन है।

पर, हमारा देश आदिकाल से आज तक भौतिकता से अधिक आध्यात्मिकता पर बल देता रहा है। डॉ. एस. राधाकृष्णन् कहते हैं कि जिस महान कथन के लिए उपनिषद् संसार में विख्यात हैं, वह है 'तत् त्वमसि'—अर्थात् वह तुम हो। इस कथन में इस बात पर जोर दिया गया है कि मानव-आत्मा में देवत्व प्राप्त करने की शक्यता है। उपनिषद् हमें बताते हैं कि आत्मा को देह मत समझो क्योंकि देह का नाश हो सकता है। इसे मन भी मत समझो क्योंकि मन में परिवर्तन हो सकता है। आत्मा तो देह के भूतावशेषों या मन की अस्थिरताओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ है—अगम, अदम्य, जिसे किसी पदार्थ या विषय का रूप नहीं दिया जा सकता। अधिकांश लोग हमेशा दुनियादारी के गोरखधंधे में पड़े रहते हैं, इसी में अपना सारा समय लगा देते हैं। सांसारिक चीजों में ही अपने को खो देते हैं। उनको अपना स्वामी बनने देते हैं, खुद अपने स्वामी नहीं बनते। उनको 'आत्महनोजना' अर्थात् अपनी आत्मा का

हनन करने वाले कहते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि यदि हम आत्मा को जानना चाहते हैं तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करें। भगवान महावीर ने जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की बात कही तब उनका जोर इन्हीं तीन सिद्धांतों पर था।

अप्पा अप्पम्मि रओ

भगवान महावीर ने कहा है कि आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यक् दृष्टि है। जो आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है वही सम्यक् ज्ञान है और उसमें स्थिर रहना ही सम्यक् चारित्र्य है। आत्मा इन तीनों में समाहित है। समाहित का अर्थ है—जो पच गया। खून में मिल गया। अब उसे करने के लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भूल जाएं तो भी वह साथ रहे। जो सहज हो जाए वही समाहित। सम्यक् चारित्र्य भी अनूठा शब्द है, चरित्र से भिन्न। क्रोध नहीं किया तो चरित्रवान, क्रोध किया तो चरित्रहीन। क्रोध किया या नहीं किया पर क्रोध भीतर है ही नहीं, यह है सम्यक् चारित्र्य। 'अप्पा अप्पम्मि रओ'—अर्थात् अपने में ही रमो, कोई डावांडोल न कर सके, वह है आत्मा में स्थित होना। यह वैसा ही है, जैसे स्वास्थ्य का अर्थ है 'स्व' में स्थित होना। जब स्वस्थ हैं, 'स्व' में स्थित हैं, तो शरीर का पता नहीं चलता। शरीर को भूले रहते हैं। जो स्वस्थ की स्थिति है वही आत्म-स्थिति की दशा है। अपने में इतने लीन कि गाली या प्रशंसा, किसी का कोई प्रभाव न पड़े। जैसे गाली या प्रशंसा के पहले थे, वैसे ही बाद में हैं। कहते हैं कि रवींद्रनाथ को जब नोबल पुरस्कार मिला और वे कोलकाता लौटे तो कइयों को आघात लगा था और वे नाराज थे। एक अखबार का संपादक जूतों की माला लेकर पहुंचा। उसने सोचा था कि रवींद्रनाथ खिन्न होंगे। बहुत लोग फूलों की माला लाए थे। उस आदमी को जूतों की माला लिए देखा। वह पीछे खड़ा था। रवींद्रनाथ फूलों की माला छोड़कर उसके पास गए और कहा कि अब ले ही आए हो तो पहना दो। वह आदमी लज्जा से भर गया और जूतों की माला पटक कर भाग गया। रवींद्रनाथ ने उसमें से एक जोड़ी चुन ली जो पहनने लायक थी; पहन ली और कहा कि ठीक किया, मेरे जूते रास्ते में खो गए थे। यह आदमी समय पर ले आया। सम्मान या असम्मान कुछ भी अंतर न लाता हो तो स्वभाव में स्थिर, तो ही स्वस्थ। यही सम्यक् दृष्टि है और सम्यक् चारित्र्य। जिसने बहिरात्मा से ध्यान हटाकर अंतरात्मा में प्रवेश कर लिया, वहां स्थिर हो गया, उसने सब पा लिया।

समझना-समझाना दुर्लभ

केनोपनिषद् में कहा गया है—'न तत्र चक्षुर्गच्छति न सग्गच्छति नो मनो न विदमो न विजानिमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेन तद्विदितादथो अविदितादधि। इति सुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचक्षिरे।।'—अर्थात् 'आंखें उस तक नहीं पहुंच सकती, न ही वाणी और न ही मन। इसीलिए हम उसे नहीं जानते और न ही हम यह जानते हैं कि उसे कैसे सिखाएं। वह उससे भिन्न है जो कि ज्ञात है, वह उससे भी भिन्न है जो कि अज्ञात है। ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है जिन्होंने इसके बारे में हमें बताया है।' जो चीजें सामने हैं उन तक आंखें पहुंच सकती हैं, परंतु आत्मा आंखों के सामने नहीं है, वह आंखों से पीछे है। आंखें तो बाहर जाने के द्वार हैं, किंतु जो अत्यंत आंतरिक है—वहां इन आंखों से नहीं पहुंचा जा सकता। जब आंखें चित्रों से, वस्तुओं से, सपनों से शून्य हो जाएं तभी आत्मा प्रकट होती है, मात्र आंखें बंद करने से नहीं। वाणी भी वहां काम की नहीं है। जो विधियां संसार को जानने में सहायक होती हैं, वे भीतर की खोज में अवरोध हैं। वाणी व विचार अवरोध हैं। मन भी सहायता नहीं कर सकता। मन तो एक उपाय है, संसार के साथ व्यवहार करने का। यह तो निर्मित की गई चीज है, क्योंकि जन्म के समय बच्चे के पास कोई मन नहीं होता, समाज फिर उसे निर्मित करता है। मन के साथ भीतर नहीं जा सकते, उसके गिराने से ही जा सकते हैं। ऋषि कहता है कि इसीलिए हम उसे नहीं जानते और न ही किसी को समझा सकते हैं कि वह है। जो कोई बिरला जान भी जाए तो दूसरे को जना नहीं सकता, क्योंकि कोई मार्ग या भाषा ही ऐसी नहीं है। केवल वहां तक ले जाया ही जा सकता है, जहां से दूसरा स्वयं ही जान सके।

यह भी कहा गया है कि वह ज्ञात से भी भिन्न है और अज्ञात से भी। जो आज अज्ञात है, वह कल ज्ञात हो सकता है, पर आत्मा व परमात्मा अज्ञेय हैं। ज्ञात और अज्ञात विज्ञान के क्षेत्र हैं, पर अज्ञेय धर्म का क्षेत्र है, केवल स्वयं के अनुभव का क्षेत्र है, जिसे बता पाना भी मुश्किल है। ऋषि एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कहता है कि यह हमने हमारे गुरुओं से सुना है। भारतीय परंपरा का यह अपना विशेष ढंग है। श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं, बुद्ध भी यही कहते हैं कि जो भी कह रहा हूं, मेरे पहले भी बहुत-से ज्ञानियों, बहुत-से बुद्धों ने ऐसा ही कहा है, क्योंकि सत्य का कोई आविष्कार नहीं करता, सत्य तो शाश्वत है। यह देने की वस्तु नहीं है, स्वयं खोजने की है। आत्मा पर न तो

कोई प्रयोग हो सकता है, न कोई निरीक्षण हो सकता है, यह कोई पदार्थ नहीं है। इसी कारण समझना और समझाना, दोनों ही, दुर्लभ हैं।

ज्ञान : आत्मा का स्वभाव

सबने सुना है कि हर एक के भीतर आत्मा है। बस, निश्चिंत हैं कि जब आत्मा है तो ज्ञानी और हम में फर्क क्या है? जार्ज गुरजिएफ कहा करते थे कि जिन लोगों ने लोगों को समझाया कि सबके भीतर आत्मा है, उन्होंने जगत की बड़ी हानि की है। गुरजिएफ ने उल्टी बात कहनी आरंभ की—सभी के भीतर आत्मा नहीं है। जो आत्मा पैदा कर ले, उसी के भीतर है, बाकी तो बिना आत्मा के हैं। जब तक जानी नहीं, तब तक है और नहीं बराबर है। घर में खजाना गड़ा हो और पता न हो—कहां गड़ा है तो होना, न होना बराबर है। इसलिए श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि जो जान लेता है, वही आत्मा को उपलब्ध होता है।

ओशो कहते हैं कि आत्मा स्वयं ज्ञान है। ज्ञान तो आत्मा का आंतरिक स्वभाव है। आत्म-अज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं होता। अस्तित्व तो प्रकाश का होता है। ज्ञान और आत्मा तो पर्यायवाची की तरह हैं। फिर भी आत्म-अज्ञान है। यह सोए व जागे हुए का अंतर है। जिसकी आत्मा सोई हुई है, वह आत्म-अज्ञान से गिर जाती है। जागना जीत है, सोना हार है। सोए हुए हाथी के नाक में छोटी-सी चींटी चली जाए तो मौत हो सकती है। यों आत्मा की शक्ति बड़ी विराट है, पर सोई हुई हो तो क्रोध जैसी ना-कुछ शक्ति हावी हो जाती है। आत्म-अज्ञान एक प्रकार की नींद है। जो जाग जाता है, उसकी आत्मा का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है। जिसे स्वयं का पता लग गया, मानो कि आत्म-अज्ञान गिर गया। फिर अंतःकरण शुद्ध व साफ हो जाता है और उसमें परमात्मा की झलक पड़ने लग जाती है।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान सबके भीतर है। कोई अर्जन नहीं करना है। सिर्फ जानना है, जागना है कि मैं कौन हूं। ज्ञान तो स्वयं में दबा पड़ा है, जैसे जमीन के नीचे पानी दबा पड़ा है। मिट्टी की परतें दूर करनी हैं। पानी के फव्वारे फूट पड़ते हैं—अपने-आप। मिट्टी की परतों का फर्क हो सकता है, कहीं दस फीट, कहीं बीस, तो कहीं पचास। क्योंकि हरएक ने अलग-अलग जन्मों में अलग-अलग मिट्टी की परतें निर्मित की हैं। कितनी ही गहराई हो, कितनी ही चट्टानें हों पर पानी अवश्य है। ऐसा ही भीतर ज्ञान है। जरूरत है खोदने के संकल्प, आज और अभी से खोदने का साहस और जीवन की सारी ऊर्जा को संयमित कर भीतर प्रवेश में लगाने की। फिर अंतःकरण की शुद्धि से आत्मा सबल होती जाएगी और जीवन आनंद का स्रोत। ❖

कार्य केवल व्यक्त कारण मात्र है। इसके अतिरिक्त कार्य और कारण में कोई विशेष अंतर नहीं है। उदाहरण के लिए कांच को ले लीजिए। यह पहले द्रव्य मात्र ही था। वही द्रव्य बनाने वाले की इच्छा के साथ मिला और वे दोनों ही इसके कारण बन गए और इस कांच में वर्तमान हैं। यदि पूछो कि किस रूप में, तो उत्तर है कि संघात रूप में। यदि इसमें शक्ति का योग न होता तो इसके अणु-अणु अलग हो जाते और जमे या मिले न रह सकते। फिर कार्य क्या ठहरा? वह केवल कारण ही है, केवल रूप में अंतर पड़ गया, केवल योग ही में अंतर ठहरा। जब कारण में विकार होता है और वह कुछ काल के लिए रहता है तब कार्य की उत्पत्ति होती है। हमें इसका ध्यान रहना चाहिए, अब यदि हम इस नियम को अपने जीवन संबंधी विचार पर लगाते हैं तो सारी अभिव्यक्तियां, जो इस जीवन की इस कड़ी में दिखाई पड़ती हैं, एकेंद्रिय जंतु से आप्त पुरुष तक, सब-की-सब वही हैं जिन्हें सर्वगत जीवन हम कहते हैं। पहले वही संकुचित रूप में होकर सूक्ष्म दशा को प्राप्त हुआ और फिर उस सूक्ष्म दशा से, जो कारण-रूप था, अभिव्यक्त, विकसित होते-होते स्थूल होता गया है।

—स्वामी विवेकानंद

अहिंसा की महान प्रतिष्ठा का सरल, सात्त्विक, स्वास्थ्यवर्द्धक आधार शाकाहार है। यह न केवल बाह्य पर्यावरण को संतुलित बनाए रखता है, वरन जीवन को पवित्रता, सद्गुण, सदाचरण और संयम की ओर भी ले जाता है। इससे अंतःकरण की शुद्धि भी होती है। अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ विज्ञान है। यह धारणा कि शाकाहार की तुलना में मांसाहार अधिक शक्तिवर्द्धक है, एक भ्रमपूर्ण एवं गलत धारणा है।

शाकाहार उस पर्यावरण की ओर ले जाता है जो 'शा' यानी शांति, 'का' यानी कांति, 'हा'—हार्द (स्नेह) और 'र'—रसा या रक्षा का परिचायक है। शाकाहार हमें शांति, कांति, स्नेह और रसों से परिपूर्ण कर हमारी रक्षा करता है।

शाकाहार से सधेगा पर्यावरण

❑ *निहालचंद जैन* ❑

पर्यावरण असंतुलन आज एक विश्वव्यापी ज्वलंत समस्या है।

पर्यावरण का अर्थ है—जीव-सृष्टि एवं वातावरण का पारस्परिक आकलन—जिसमें समस्त प्राणी, आबोहवा, भूगर्भ और आस-पास की परिस्थिति विषयक विज्ञान का समावेश होता है। व्यापक दृष्टि से देखें तो इसमें केवल मानव, पशु-पक्षी, जीव-जंतु एवं वनस्पति ही नहीं, अपितु समग्र ब्रह्मांड, तारक-वृंद, सूर्यमंडल, गिरिकंदरा, पर्वत, सरिता-सागर, झरने, वन-उपवन, पुष्प तथा भूपृष्ठ सहित सभी प्राकृतिक पदार्थ जैसे—पृथ्वी, हवा, अग्नि, जल आदि पंचमहाभूत तत्त्वों का भी समावेश होता है।

हम और हमारा पर्यावरण
5 जून
❑ विश्व पर्यावरण दिवस ❑

मनुष्य पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। उसके शरीर में यदि विकार उत्पन्न होते हैं तो संपूर्ण पर्यावरण कलुषित हो उठता है। अतः स्वच्छ पर्यावरण के लिए मनुष्य का स्वस्थ होना आवश्यक है। हम वही होते हैं जो पेट में डालते हैं। पर्यावरण का संबंध हमारे आचार-विचार, खान-पान, आहार-विहार से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

पर्यावरण केवल बाह्य जगत से ही नहीं, वरन अंतर्जगत और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सह-संबंधित है। आंतरिक पर्यावरण भी एक विचारणीय घटक है। पर्यावरण के निर्माण में जड़ (पुद्गल) और चेतन (मन-मस्तिष्क, आत्मा) दोनों की अपनी-अपनी निश्चित भूमिका होती है।

आंतरिक पर्यावरण पूरी तरह से मानसिक धरातल से जुड़ा होता है। व्यक्ति के काषायिक भावों से इसका प्रदूषण हुआ करता है। क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप एवं हिंसा, अतिभोगवाद व संग्रह की दुष्प्रवृत्ति इसके कारक हैं। मन जब तक इन कषायों से निर्मुक्त होकर स्वच्छ नहीं होगा, भीतर पर्यावरण विशुद्ध नहीं बन सकता है। आंतरिक पर्यावरण की विशुद्धि अहिंसा, करुणा, दया और मैत्री जैसे उदात्त जीवन-मूल्यों से ही संभव हो सकती है।

हमारे देश के 41वें संविधान संशोधन द्वारा प्रत्येक नागरिक का यह मूल कर्तव्य हो गया है कि वह प्राकृतिक पर्यावरण—जिसके अंतर्गत वन, झील, वन्य-प्राणी आदि आते हैं—की रक्षा करे, उसका संवर्द्धन करे, प्राणी मात्र के प्रति दया-भाव रखे तथा अवैध शिकार से बचे। संविधान की उक्त धारा में पर्यावरण के दोनों घटकों के संरक्षण की बात आ जाती है।

पर्यावरणविदों की मान्यतानुसार, इस विराट सौरमंडल में केवल पृथ्वीगृह पर ही अद्भुत जीवन संरचना

है। यहां अगाध सागर, उत्तुंग पर्वत, जीवन-रस बहाती नदियां और वायुमंडल की छत्रछाया है। नदियों के जल का सिंचन पाकर उर्वरा भूमि पर हरे-भरे पेड़-पौधे उत्पन्न हुए हैं। पेड़-पौधों ने अपनी प्राण-वायु से अन्य जीवधारियों को सांसें दी, भोजन एवं जीवन की आवश्यकताओं की संपूर्ति की है। प्रकृति की संपूर्ण व्यवस्था प्राणियों की जीवनधारा को सुरक्षित बनाए रखने की हुआ करती है। परंतु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए अतुल प्राकृतिक संपदा को नष्ट करने पर उतारू बना हुआ है। इस कारण पर्यावरण विक्षुब्ध हो रहा है।

आज संपूर्ण विश्व में एक चेतावनी, चिंतन और चेतना का दौर चल रहा है। चेतावनी का विषय है—**पर्यावरण**, चिंतन का विषय है—**पर्यावरण का असंतुलन/प्रदूषण** और चेतना का विषय है—**पर्यावरण को संतुलित/संरक्षित करने का उपाय**।

आज की नई सभ्यता—जो कि आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित है और भोगवादी संस्कृति की प्रणेता है—ने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी को असंतुलित कर दिया है। पर्यावरण ऐसी प्राकृतिक सुधा है, जिसके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह करोड़ों वर्षों से मानव का संरक्षण एवं संपोषण करती आ रही है, लेकिन विकास की अंधी-दौड़ में प्रकृति का अंधाधुंध दोहन हो रहा है। पर्यावरण-प्रदूषण तथा पारिस्थितिकी असंतुलन की समस्या मानवता के अस्तित्व के लिए चुनौती बनी हुई है। इसका एक प्रमुख कारण मांसाहार है। मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण प्रकृति का स्वाभाविक संतुलन तेजी से बिगड़ता जा रहा है। उदाहरणतः एक गाय के मांस से अधिकतम 50 व्यक्तियों की क्षुधाग्नि शांत हो सकती है, जबकि अपने संपूर्ण जीवनकाल में वह लगभग एक लाख व्यक्तियों को एक समय पिला सकने लायक दूध देती है।

शाकाहार जीवन-शैली, अत्यंत स्वाभाविक है और मनुष्य के मूल अस्तित्व से जुड़ी है। अनुमान है कि पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व 15 करोड़ वर्ष प्राचीन है। इनमें 14 करोड़ 95 लाख वर्षों तक उसने फल-फूल/कंदमूल/पत्ते-पौधों से ही अपना पेट भरा, जो विभिन्न ऋतुओं में एकत्रित करता और खाता रहा। जीवाश्म-विज्ञानी डॉ. आलन वाकर ने शाकाहार की पुरातनता को अपनी खोजों से प्रमाणित किया है और निष्कर्ष दिया है कि मनुष्य का मूल आहार शाकाहार तथा फलाहार ही था। शाकाहार किसी मजहब से संबंधित नहीं है। यह एक धर्म-निरपेक्ष जीवन-शैली है। सहअस्तित्व, करुणा, अहिंसा और मनुष्यता जैसे उदात्त जीवन-मूल्यों से इसका सीधा संबंध है।

भारतीय संस्कृति ने वृक्ष-वनस्पति को मानवीय भावना प्रदान की है। इसीलिए वन, वृक्ष, पेड़-पौधों और प्रकृति की सुरम्यता का जीवन के साथ अटूट संबंध रहा है। काल-चक्र इसका गवाह है। भगवान श्रीराम चौदह वर्ष के वनवास के लिए निकले और राम, सीता व लक्ष्मण वट-वृक्ष की छाया में बड़े आनंद से रहे। सीता ने पर्णकुटी के आस-पास पौधे लगाए, जिनको गोदावरी के पानी से सींचती थीं। सीताहरण के बाद जब राम पुनः पंचवटी में आए तो सीता द्वारा लगाए वृक्षों को देखकर वे रो पड़े। रघुवंश में वर्णन आया है कि पार्वती ने सिर पर पानी के घड़े रखकर देवदार के वृक्षों को सींचा और बालकों की भांति उनका पालन-पोषण किया। शकुंतला का वर्णन करते हुए कण्व ऋषि कहते हैं—'शकुंतला वृक्षों को पानी पिलाए बिना पानी नहीं पीती'। वह वृक्षों के फूल नहीं तोड़ती, न पत्ते नोचती थी। उस प्रेममयी शकुंतला के वियोग में आश्रम के वृक्षों और लता-बेलों ने भी अश्रु गिराए होंगे।

'शाकाहार-संस्कृति' का पर्यावरण संतुलन एवं संरक्षण से क्या संबंध है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। शाकाहार का संबंध केवल हमारे भोजन या आहार से नहीं है, वरन संपूर्ण जीवन-शैली से जुड़ा हुआ है।

जैनाचार्य उमास्वामी देव का **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** का मूलमंत्र शाकाहार में छिपा हुआ है, जो हर प्राणी को प्रकृति और पर्यावरण से जोड़ता है। शाकाहारी के जीवन-प्रांगण में मैत्री एवं भ्रातृत्व के फूल खिलते हैं। शाकाहार भारतीय संस्कृति के उस मानवीय गुण का दर्पण है जिसमें दूसरों के दुख से द्रवीभूत होने का भाव जुड़ा होता है।

सहजीवी व्यवस्था और पर्यावरण संतुलन

वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी पर जीवन-विकास का अनुकूल वातावरण उपलब्ध है। जीवन का उद्भव एवं विकास, प्रकृति में परस्पर सहयोगी व्यवस्था इस पृथ्वी पर शाश्वत रूप से विद्यमान है। इस सहयोगी, सहजीवी व्यवस्था के विपरीत परजीवी-अवधारणा भी बनी रही, परंतु वैज्ञानिक विकास के साथ सहजीवी व्यवस्था की निरंतर पुष्टि होती गई।

वस्तुतः वनों पर आधारित सहजीवी जीवन-पद्धति में अहिंसा की प्रतिष्ठा के दर्शन होते हैं। जैन पुराणों में कर्मयुग के पूर्व भोग-भूमि के समय दस प्रकार के कल्प-वृक्षों का वर्णन आया है, जिनके द्वारा मनुष्य व अन्य प्राणी अपना जीवननिर्वाह करते थे। जीवों की आवश्यकताओं और वृक्षों के उपादान में एक तालमेल और सामंजस्य था। उस समय मनुष्यों की आकांक्षाएं बहुत सीमित थीं। संग्रह वृत्ति लेशमात्र नहीं थी। कल्प-वृक्षों द्वारा जीवननिर्वाह शाकाहार जीवन-पद्धति का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। वे कल्प-वृक्ष भोजनांग (विभिन्न प्रकार की खाद्य-सामग्री प्रदान करने वाले), पानांग (पेय पदार्थ देने वाले), अलयांग (आवास सामग्री देने वाले), वस्त्रांग, भूषणांग, भाजनांग (पात्र सामग्री देने वाले), मलयांग (सुगंधित पदार्थ देने वाले), दीपांग (प्रकाश देने वाले) और तेजांग (सूर्य के हानिकारक विकिरणों को रोकने वाले) आदि दस वर्गों के अंतर्गत विभाजित किए जा सकते हैं। ये सभी शाकाहार के श्रेष्ठ प्रतीक और पर्यावरण के सच्चे साथी थे।

परंतु व्यक्ति की आकांक्षाओं के बढ़ने के साथ, जब संग्रह वृत्ति बढ़ने लगी तो इनकी कमी महसूस होने लगी और यह कहा जाने लगा कि कर्म-भूमि के साथ इनका प्रभाव भी घटने लगा। वस्तुतः यह वन-संस्कृति (शाकाहार-संस्कृति) के श्रेष्ठ अवदान का समय था, जब व्यक्ति और प्रकृति में एक स्वाभाविक रिद्‌म थी। मनुष्य का मन सरल, निश्च्छल और अहिंसक था। परंतु कलुष-भावनाओं के उद्‌गम के साथ अति व अनावश्यक संग्रह से पर्यावरण संतुलन भी चरमराने लगा।

कत्लखाने-पर्यावरण के दुश्मन

जीवन-दायिनी अहिंसा के अभाव में क्रूरता की शक्ति बढ़ने लगी और व्यक्ति मांसाहारी हो गया। इस मांसाहार के कारण हमारे देश में कत्लखानों का श्रीगणेश हुआ। कत्लखानों का दिनों-दिन बढ़ना पर्यावरण के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। मांसाहार हिंसा और क्रूरता की जमीन से पैदा होने वाला आहार है जो प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है और जिसके कारण पर्यावरण सर्वाधिक प्रदूषित व असंतुलित हो रहा है।

आज देश में लगभग 36,030 बड़े वैध कत्लखाने खुले हुए हैं जो पर्यावरण के दुश्मन हैं।

मांस-निर्यात और विदेशी मुद्रा कमाने के लिए कत्ल का रास्ता अपनाना भारतीय संस्कृति और प्रकृति, दोनों, के खिलाफ है। हमारी बदकिस्मती है कि पर्यावरण-संतुलन का हिसाब नहीं रखा जाता। जो भयंकर नुकसान इससे पहुंचेगा उसके बारे में कोई जान नहीं सकेगा। इससे पशुधन अनुपात भी गड़बड़ाया है। घास खाकर दूध देने व श्रम करने वाले पशुधन का कत्ल कर देना क्या सभ्य मानव समाज का न्याय है?

पर्यावरण-संरक्षण का आधार स्तंभ है शाकाहार

अहिंसा की महान प्रतिष्ठा का सरल, सात्त्विक, स्वास्थ्यवर्द्धक आधार शाकाहार है। यह न केवल बाह्य पर्यावरण को संतुलित बनाए रखता है, वरन जीवन को पवित्रता, सद्‌गुण, सदाचरण और संयम की ओर भी ले जाता है। इससे अंतःकरण की शुद्धि भी होती है। अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ विज्ञान है। यह धारणा कि शाकाहार की तुलना में मांसाहार अधिक शक्तिवर्द्धक है, एक भ्रमपूर्ण एवं गलत धारणा है।

शाकाहार उस पर्यावरण की ओर ले जाता है जो 'शा' यानी शांति, 'का' यानी कांति, 'हा'—हार्द (स्नेह) और 'र'—रसा या रक्षा का परिचायक है। शाकाहार हमें शांति, कांति, स्नेह और रसों से परिपूर्ण कर हमारी रक्षा करता है।

अपनी वैज्ञानिक—शोधों से वैज्ञानिक वी. विद्यानाथ ने यह दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दिया है कि स्वास्थ्य और पर्यावरण रक्षा की दृष्टि से शाकाहार अधिक बेहतर और आदर्श आहार है।

एक शाकाहारी 0.72 एकड़ भूमि से जीवनयापन कर सकता है, जबकि एक मांसाहारी के लिए 1.63 एकड़ जमीन की जरूरत होती है। यह एक भ्रांत धारणा है कि यदि तमाम मांसाहारी अगर शाकाहारी बन जाएं तो उनके लिए पर्याप्त अनाज ही उपलब्ध नहीं हो पाएगा। मांस उत्पादन से पर्यावरण का बड़े पैमाने पर अवक्रमण हुआ है। केवल अमेरिका में एक किलो गेहूं उत्पादन करने के लिए 50 गैलन जल की आवश्यकता होती है। जबकि इतने गौमांस के लिए 10,000 गैलन पानी चाहिए। विश्व के यदि सभी लोग शाकाहारी हो जाएं तो अन्न की कहीं कमी नहीं होगी, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों का अपव्यय रुकेगा। यदि अमेरिका में ही केवल 10 प्रतिशत व्यक्ति अपना मांसाहार बंद कर दें तो विश्व को पर्याप्त भोजन मिल सकता है। शाकाहार के संदर्भ में इससे बड़ी मिसाल पर्यावरण-संरक्षण की और क्या हो सकती है!

रोगों को रोकने में रेसे—'फाइबर' का बड़ा महत्त्व है। मांसाहारी पदार्थों में 'फाइबर' की मात्रा बिलकुल नहीं

होती। अतः मांसाहार में रोगों की प्रतिरोधक क्षमता शून्य होती है। इसके विपरीत शाकाहारी खाद्यान्न में 'फाइबर' के साथ संतुलित आहार के सभी तत्त्व पाए जाते हैं—जैसे प्रोटीम, वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज-लवण, विटामिन आदि। सभी वनस्पतियों, अनाज, दालों, दूध और फलों से यह सुलभता से प्राप्त हो जाता है। केवल शाकाहार पर मनुष्य पूरी व लंबी आयु सरलता से जी सकता है। जापान में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि शाकाहारी न केवल स्वस्थ व निरोगी रहते हैं, अपितु दीर्घजीवी भी रहते हैं और उनकी बुद्धि अपेक्षाकृत कुशाग्र रहती है।

महात्मा गांधी के जीवनकाल की एक बात है। कांग्रेस की एक सभा में सत्याग्रह संबंधी आंदोलन के एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पर विचार होने वाला था। परंतु जिस रिपोर्ट के आधार पर प्रस्ताव लिखा जाना था, वह रिपोर्ट कहीं खो गई थी। गांधीजी ने राजेंद्र बाबू से पूछा—आपने तो रिपोर्ट पढ़ ली थी, कुछ याद है? उन्होंने उत्तर दिया—'हां मैं लिखवा सकता हूं', और वे बोल कर लिखवाने लगे। जब लगभग 150 पन्ने राजेंद्र बाबू लिखवा चुके, तब तक रिपोर्ट की मूल प्रति भी मिल गई। नेतागण उसे मिलाने लगे, वह शब्दशः मिल रहा था। नेहरूजी ने व्यंग्य में कहा—'राजेंद्र बाबू! कमाल का दिमाग है—आपका। यह आपको कहां से मिला?' उनका उत्तर था—'यह अंडे का नहीं, दूध का दिमाग है।'

बाइबिल में लिखा है—'यदि तुम शाकाहार करोगे तो तुम्हें जीवन-ऊर्जा प्राप्त होगी। किंतु यदि मांसाहार करते हो तो वह मृत आहार तुम्हें भी मृत बना देगा।' जीवन से तात्पर्य किसी व्यक्ति के जीने-भर से न होकर उसकी सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, पारिस्थितिकीय तथा पर्यावरणीय परिस्थितियों से है।

प्रकृति, पर्यावरण एवं शाकाहार

पर्यावरण के दूषित व असंतुलित होने की समस्या हिंसा से जुड़ी है। अहिंसा पर्यावरण प्रदूषण से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है। मांसाहार दूसरे जीवों को क्रूरतापूर्वक दुख पहुंचाए बिना प्राप्त हो ही नहीं सकता। यह प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य का घोर दुष्कृत्य है। जबकि शाकाहार में दूसरों को क्रूरतापूर्वक दुख पहुंचाकर पेट भरने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शाकाहार समरसता और सहिष्णुता जैसे चारित्रिक गुणों पर आधारित एक जीवन-प्रक्रिया है। मांसाहारी का मन उतना संवेदनशील नहीं रह जाता, जितना एक शाकाहारी का बना रहता है। शाकाहार के साथ ललित जीवन-मूल्यों का जितना घनिष्ठ संबंध है, उतना किसी अन्य आहार के साथ नहीं है।

एक संतुलित सामाजिक पर्यावरण के लिए शाकाहार की अपरिहार्यता को स्वीकार करना होगा। एक आदमी को जितनी ऊर्जा (कैलोरी) जरूरी होती है, शाकाहार से वह सहज ही मिल जाती है। शाकाहारी को वनस्पतियों से सीधा और स्वस्थ पोषण मिलता है, किंतु मांसाहारी को वही टेढ़े रास्ते चलकर पाना होता है। दुनिया में ऐसा एक भी सभ्य मनुष्य नहीं है जो सिर्फ मांसाहार पर जीवनयापन करता हो। उसे शरीर के चयापचय के लिए शाकाहार पर निर्भर रहना ही होता है।

एक शंका का निर्मूलन

प्रायः एक शंका उठाई जाती है कि यदि मांसाहार बंद हो जाए तो अन्न, धान्य, फल और सब्जी के भाव आसमान पर चढ़ जाएंगे। पशु-पक्षी इतने बढ़ जाएंगे कि रहने की जगह और खाने को अनाज नहीं मिलेगा। इसका समाधान क्या है?

अर्थशास्त्री मालथस के अनुसार खाने-पीने की वस्तुओं और जनसंख्या के बीच का संतुलन प्रकृति स्वयं बनाए रखती है। यदि मनुष्य आबादी को बेरोकटोक बढ़ने देता है तो प्रकृति महामारियों तथा विपदाओं द्वारा उसे संतुलित करती है। इसलिए यह कहना कि मांसाहार को शाकाहार के लिए जीवित रखा जा रहा है, एक धूर्ततापूर्ण संयोजन है।

बच्चे को जन्म देने से पूर्व मां के स्तनों में दूध नहीं होता। लेकिन बच्चे के जन्म पाते ही मां के स्तनों में स्वभावतः दूध की व्यवस्था हो जाती है। प्रकृति यह जानती है कि बच्चे के दांत नहीं हैं, उसका पेट कैसे भरेगा। जीवन संरक्षण प्रकृति के साथ चलता है। जब बच्चा साल-डेढ़ साल का हो जाता है और उसके मुंह में दांत आ जाते हैं तथा वह अनाज खाने लायक बन जाता है तो मां के स्तनों का दूध भी अपने-आप कम हो जाता है। कोई भी वैज्ञानिक या डाक्टर प्रकृति की इस व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता।

शाकाहार एवं सामयिक संदर्भ

हृदय रोगियों को लेकर शाकाहार संबंधी कुछ विशिष्ट प्रयोग हुए हैं। 80 हृदय रोगियों में से 40 रोगियों को सादा शाकाहारी भोजन, व्यायाम और तनावमुक्त जीवन जीने की सलाह दी गई और शेष 40 रोगियों को हृदय रोग की

आधुनिकतम दवाएं दी गईं। दो वर्ष के पश्चात् सभी की जांच की गई तो संतुलित जीवन प्रक्रिया वाले प्रथम वर्ग के हृदय रोगियों को दवा की जरूरत नहीं रही। वे पहले से ज्यादा बेहतर थे। जबकि दवा लेने वाले वर्ग के रोगियों की स्थिति सुधरी अवश्य थी, मगर दवाएं बंद करते ही उनकी हालत वापस बिगड़ने का खतरा बरकरार था। इस प्रयोग की सफलता के आधार पर हृदय रोगियों को शाकाहार एवं सात्त्विक भोजन की सलाह दी जा सकती है। अमेरिका व इंग्लैंड जैसे विकसित देशों के लोग मांसाहार को छोड़कर शाकाहार को अपना रहे हैं। जिसके कारण मांस का व्यापार करने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अन्य काम देखने के लिए मजबूर होना पड़ा है। अमेरिका में शाकाहार के बारे में प्रकाशित एक पुस्तक की सर्वाधिक बिक्री लोगों की शाकाहार के प्रति बढ़ती हुई गहरी रुचि का प्रतीक कही जाती है।

ब्रिटेन में शाकाहार एक सामाजिक क्रांति के रूप में उभरकर सामने आ गया है। सिर्फ लंदन में दो सौ से अधिक शाकाहारी रेस्त्रां हैं। ब्रिटेन के हर स्कूल में शाकाहारी भोजन को प्रवेश मिल गया है। वहां शुद्ध शाकाहारियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। वहां अब लगभग 30 लाख से अधिक शाकाहारी हैं।

न्यूयार्क स्थित जैन मेडिटेशन इंटरनेशनल सेंटर में शुरू के वर्षों में केवल 35 सदस्य थे, उनकी संख्या अब 25 हजार तक पहुंच गई है। वे सभी शाकाहारी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में डेढ़ करोड़ लोग शाकाहारी हैं, जो वहां की जनसंख्या का लगभग 6.2 प्रतिशत है। विश्व में शाकाहार के प्रति बढ़ती इस अभिरुचि से निश्चित ही पर्यावरण असंतुलन की गहरी समस्या थोड़ी कम हुई मानी जा सकती है।

वन-संपदा का विनाश और मंडराता पर्यावरणीय खतरा

शाकाहार और वन-संपदा एक-दूसरे से अभिन्न हैं। वृक्ष-वध पर्यावरण की ही हत्या है। वृक्ष, पादप और लताएं शाकाहार के सर्जन में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। हरी-भरी पृथ्वी, शस्य-श्यामल और सुजलाम्-सुफलाम् की संज्ञा इस वन-संपदा के कारण ही है। सघन वन जहां मेघों को अपने पास बुलाकर भूमि के सिंचन का वरदान देते हैं, वहीं वनोपज औषधियां आदि मधुरस भी देते हैं।

कल्पवृक्ष की अवधारणा जीव-संस्कृति का श्रेष्ठ अवदान है। वृक्ष ही तो कल्पवृक्ष हैं। उनसे ही जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी हुआ करती हैं। वन सदियों से मानव व पशु-पक्षियों के जीवन से जुड़ा हुआ है। जल व मृदा का संरक्षण भी वन ही करता है। वायुमंडलीय तापक्रम, आर्द्रता, वर्षा का नियंत्रण, बाढ़ की रोकथाम, तूफानी हवाओं से बचाव और वन्य प्राणियों के संरक्षण में भी वनों का अपरिमित महत्त्व है।

इस प्रकार पर्यावरण संतुलन में वन एक अहम भूमिका का निर्वाहन करते हैं। पर्यावरण संतुलन का समीकरण तब गड़बड़ाता है, जब वर्षा का अभाव, असमय वर्षा या अनावृष्टि हो। अन्न का अकाल तथा रेगिस्तान का प्रसार, धरती की तापवृद्धि तथा धरती के पादप-वृक्षों का सर्वनाश हो।

भारत में पर्यावरणीय संतुलन के लिए कुल क्षेत्रफल का कम-से-कम 33.3 प्रतिशत वन होना चाहिए। लेकिन वनों की बेहताशा कटाई से यह क्षेत्रफल 20 प्रतिशत (7 करोड़ एकड़) रह गया है। इससे न केवल पर्यावरण का संतुलन बिगड़ रहा है, वरन ईंधन की समस्या भी उत्पन्न हो गई है। साथ ही भू-संरक्षण, भूस्खलन एवं मरुस्थलीकरण जैसे पारिस्थितिकीय विक्षोभ के कारण लाखों टन उपजाऊ मिट्टी भी प्रतिवर्ष क्षरित हो जाती है।

वनस्पतियां पौष्टिकता के सर्वश्रेष्ठ स्रोत हैं

वनस्पति-जनित आहार में दीर्घजीविता के तत्त्व विद्यमान होते हैं। वृक्ष स्वयं इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। कुरुक्षेत्र (हरियाणा) का ज्योतिसर स्थित वटवृक्ष लगभग 5 हजार वर्षों से यथावत है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के क्वांसलेंड नगर में 12 हजार साल पुराना मेक्रोजामिया जाति का वृक्ष है। मनुष्य के जंगली रूप से लेकर सभ्य रूप तक उसने देखा है।

वनों का सफाया होने से जीव-जंतुओं की अनेक प्रजातियां विलुप्त होती जा रही हैं। सन् 1600 से अब तक लगभग 120 स्तनधारियों की तथा 225 पक्षियों की प्रजातियां विलुप्त हो चुकी हैं। 20वीं सदी के अंत तक लगभग 650 वन्य प्राणियों की प्रजातियां विलुप्त होने की कगार पर थीं।

शाकाहार और पर्यावरण संबंधी अंतरराष्ट्रीय मान्यताओं के संदर्भ

शाकाहार से तन पर ही नहीं, मन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास होने

शेष पृष्ठ 56 पर

जीवन के शाश्वत मूल्यों को वर्तमान युगबोध में प्रस्तुत करना आवश्यक है और इनके अनुसरण से ही जीवन को आनंदमय बनाया जा सकता है। दर्शन जब जीवन के साथ जुड़ता है, तो जीवन कल्याणकारी बन जाता है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को जीवन-दर्शन के रूप में देखा जा सकता है।

जो कार्यक्रम जीवन-शैली में परिवर्तन ला सकते हैं वे मानवता के लिए वरदान बन जाते हैं। इसीलिए ये अवदान लोक-कल्याणकारी साबित हो रहे हैं। सिद्धांत और प्रयोग के समन्वय से ही मानवीय चेतना में रूपांतरण घटित हो सकता है। जीवन-शैली में परिवर्तन के लिए कुछ सरल सिद्धांतों की अनुपालना की जाए तो जीवन में सरसता और स्वस्थता का अनुभव किया जा सकता है।

कीडें तेहिज काज

❑ मुनि मदनकुमार ❑

मनुष्य चिरकाल से मानसिक शांति और आनंद की खोज में लगा है, किंतु यह उसके लिए मृगमरीचिका बना हुआ है। हम अपने इर्द-गिर्द दृष्टिपात करें, तो पाएंगे कि विषाद, दुख और असामंजस्य का बोलबाला अधिक है। मन में यक्षप्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य के जीवन में आनंद और प्रसन्नता का अवतरण क्यों नहीं है? क्या क्षोभ और तनाव भोगना ही मनुष्य की नियति है, या कि आनंद प्राप्ति के प्रति भी आशान्वित हुआ जा सकता है? मनुष्य वास्तव में यदि आनंद प्राप्ति की चाह रखता है तो उसे 'आनंद' शब्द के आशय को गहराई से समझना चाहिए। मनीषी-दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—सुख पदार्थसापेक्ष है, जबकि आनंद पदार्थनिरपेक्ष। भौतिक उपलब्धियों से व्यक्ति सुख भोग तो सकता है, किंतु आनंद नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आनंद को धन, सत्ता, वैभव और कीर्ति से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। एक अकिंचन व्यक्ति आनंद के शिखर पर पहुंच सकता है और एक धनाढ्य व्यक्ति को विषाद की चरम स्थिति भुगतनी पड़ सकती है। एक घर में भिक्षा के लिए जाना हुआ। गृहस्वामिनी सुबक-सुबक कर रो रही थी। संपन्न और भरे-पूरे परिवार की महिला को इस तरह रोते देख आश्चर्य हुआ। पूछा तो पता चला कि वर्षों पुरानी किसी बीमारी से वह पीड़ित है। बेटा-बहू अविनीत हैं। और अब यह चिंता खाए जा रही है कि बुढ़ापे में क्या होगा?

विपुल धन-संपदा होते हुए भी मनुष्य भविष्य की चिंताओं में डूबा रहता है। चिंता को चिता के समान कहा गया है—'चिंता चितासमा प्रोक्ता।' चिता मृत को जलाती है, जबकि चिंता जीवित को ही जला देती है। ऐसी स्थिति में आनंद का प्रकटीकरण कैसे हो?

यह सच है कि अच्छा स्वास्थ्य, समृद्धि और पारिवारिक सामंजस्य शांतिपूर्ण जीवनयापन के लिए आवश्यक हैं। इन सबके होते हुए भी कई लोग दुख का वेदन करते हुए देखे जाते हैं। अतः यह मानना चाहिए कि वास्तविक आनंद और प्रसन्नता आत्मगत है, न कि बाह्य पदार्थों में। दुख, विषाद और बेचैनी के लिए व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेदार होता है। मनुष्य स्वयं ही मकड़ी की तरह जाल बुनता है और उसमें फंस जाता है। जबकि यदि अपनी अस्मिता का बोध करे और उसे जगाए तो जीवन में शांति और आनंद का अनुभव भी कर सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार संवेगों के नियमन, बंधनमुक्ति की चाह, अनासक्त और करुणाप्रधान जीवन-शैली तथा सत्यनिष्ठा के विकास से मनुष्य जीवन में आनंदानुभूति पा सकता है। ये सब जीवन में वास्तविक रूप से घटित होने चाहिए। केवल वाचिक तौर पर किसी लाभ की आशा नहीं

की जा सकती। गीता में भी आनंद प्राप्ति के उपायों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि मनुष्य सदा निष्काम कर्म करे, सुख-दुख की स्थिति में स्थितप्रज्ञता बनी रहे और अपने आराध्यदेव के प्रति घनीभूत श्रद्धा बनी रहे तो आनंद को हासिल किया जा सकता है। निष्काम कर्म की मीमांसा करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि कामना मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। अगर कामना न हो तो उसका जीवन बदल जाएगा। गीता में जो निष्काम शब्द का चुनाव किया गया है, वह बहुत सटीक है। निष्काम वह है जो कामनारहित है। फल की कामना न हो तो स्पर्धा और अपराध के लिए भी अवकाश नहीं रहेगा। प्रियता और अप्रियता की स्थिति में जो सम रहे वही स्थितप्रज्ञ है। जिसमें ऐसी चेतना विकसित हो जाए, उसे सुख-दुख की परिस्थितियां प्रभावित ही नहीं कर पाएंगी। वीतराग, अर्हत् और सिद्ध हमारे आदर्श हैं और हमारी आत्मा परम अर्हता-संपन्न है—जिसमें यह धारणा पुष्ट हो जाए तो परिस्थितियां उसे कैसे प्रताड़ित करेंगी? ऐसी निष्ठा जाग जाए तो विषाद आएगा ही नहीं और यदि आ जाए तो वह टिक नहीं पाएगा।

जीवन के शाश्वत मूल्यों को वर्तमान युगबोध में प्रस्तुत करना आवश्यक है और इनके अनुसरण से ही जीवन को आनंदमय बनाया जा सकता है। दर्शन जब जीवन के साथ जुड़ता है, तो जीवन कल्याणकारी बन जाता है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान को जीवन-दर्शन के रूप में देखा जा सकता है। जो कार्यक्रम जीवन-शैली में परिवर्तन ला सकते हैं वे मानवता के लिए वरदान बन जाते हैं। इसीलिए ये अवदान लोक-कल्याणकारी साबित हो रहे हैं। सिद्धांत और प्रयोग के समन्वय से ही मानवीय चेतना में रूपांतरण घटित हो सकता है। जीवन-शैली में परिवर्तन के लिए कुछ सरल सिद्धांतों की अनुपालना की जाए तो जीवन में सरसता और स्वस्थता का अनुभव किया जा सकता है।

जैन आगम बताते हैं कि क्रोध से प्रीति का नाश होता है। यह भी सच है कि क्रोध दूसरे के मन को तोड़ डालता है। भावना, संवेदना और सहानुभूति को मिटाने का निमित्त क्रोध ही बनता है।

क्रोध के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि क्रोध संसार में जलाने का साधन है तथा शत्रुता की जड़ है। इतना ही नहीं, क्रोध दुर्गति में ले जाने वाला मार्ग तथा सुख-शांति के लिए अर्गलास्वरूप है। इसलिए कहा गया है—

क्रोधमूलो मनस्तापः, क्रोधः संसार साधनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिवर्जयेत्।।

मन की पीड़ा का मूल कारण क्रोध होता है, क्रोध संसार में जन्म-मरण के चक्कर में डालता है। क्रोध धर्म को नष्ट कर देता है। अतः क्रोध को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

स्थानांग में कहा गया है कि क्रोध जैसा विष संसार में नहीं है। क्रोधावेश में कितने भयंकर अनर्थ घटित हो जाते हैं? फिर भी मनुष्य इस विष का संरक्षण करे तो यह कितना बड़ा आश्चर्य है? जीवन में विषाद और अप्रसन्नता का बहुत बड़ा कारण क्रोध ही है। पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, सास-बहू में और भाई-भाई में यदि कलह चलता रहे तो जीवन में आनंद, उल्लास और शांति की कल्पना कैसे की जा सकती है? वैसी स्थिति में सम्यक्त्व की प्राप्ति और सुरक्षा भी संदिग्ध बनी रहेगी। जिसका जीवन क्लेशपूर्ण वातावरण में ही बीतता हो तो उसके भावी जीवन पर भी प्रश्नचिह्न ही समझना चाहिए। वर्तमान जीवन अच्छा नहीं है तो भावी जीवन अच्छा कैसे होगा? धार्मिक व्यक्ति के लिए क्रोधपूर्ण जीवन चिंता का विषय होना चाहिए। तभी तो श्रीमज्जयाचार्य जैसे चिंतक लिख गए हैं—'इहलोक परलोक सुधरे आपरो, कीजै तेहिज काज।'

जिस पर क्रोध किया जाए उसका कुछ भी अनिष्ट न हो, यह हो सकता है। किंतु, क्रोध करने वाले का नुकसान अवश्यंभावी है। क्रोध करने वाले की मानसिक शांति भंग होती है और उसका जीवन दुखमय बन जाता है। क्रोध की वजह से ही परिवार में अशांति, असामंजस्य और बिखराव पैदा होता है। क्रोध का अतिरेक मनुष्य के मन में पागलपन पैदा कर सकता है। हत्या और आत्महत्या जैसे जघन्य पापों के लिए भी ऐसे व्यक्ति विवश हो उठते हैं। जीवन में शांति के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि प्रतिक्रिया और प्रतिशोध से बचते रहें तथा स्वयं सदा शांत रहने का प्रयास करें। अच्छा तो यह रहे कि अनिष्ट करने वाले के प्रति भी दुर्भावना न आए।

प्रेक्षाध्यान के माध्यम से मैत्री की अनुप्रेक्षा द्वारा चित्त में घर की हुई बुरी भावनाओं का निरसन किया जा सकता है। बुरी भावनाओं को, जितना शीघ्र संभव हो, चित्त से निकाल देना चाहिए। ये दुर्भावनाएं न केवल मन की शांति को, बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य को भी बरबाद कर देती हैं। यदि किसी ने आपका नुकसान किया है तो अपने मन की शांति और

प्रसन्नता के लिए उसे भूल जाएं और क्षमा प्रदान कर दें। जीवन में स्मृति की तरह विस्मृति भी महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी ने आपका अनादर कर दिया है तो नीतिकार कहते हैं कि आप उस अपमान को भूल जाइए। अगर भूल नहीं सकते तो उसे उपेक्षित कर दीजिए। अगर उपेक्षा नहीं कर सकते तो चुपचाप सहन कीजिए और यदि सहन भी नहीं कर सकते तो समझिए कि फिर आप उस अपमान के योग्य हैं।

जो जीवन में शांति चाहता है, उसे दूसरों की आलोचना और छिद्रान्वेषण से बचते रहना चाहिए। अनधिकृत चर्चा और विकथा जीवन को बोझिल बनाती है। भले ही कोई व्यक्ति दोषी हो, किंतु इसके लिए आप क्यों कोई बात सोचें? आपके सोच का मूल्य ही क्या है? दूसरों की चिंता में दुखी होना व्यर्थ है। इसीलिए कहा गया है कि परचिंताधमाधमा—पराई चिंता अधम कार्य है। हम जानते हैं कि हर व्यक्ति के अपने शुभाशुभ कर्म होते हैं, इसीलिए कहा गया है—पत्तेयं पुण्णपावं। फिर परचिंता में स्वयं को व्यर्थ क्यों लगाएं? यदि जीवन में शांति चाहते हैं तो स्वयं को ही देखने की आदत डालें, दूसरों को नहीं।

ईर्ष्या जोंक की तरह जीवन को खा जाती है। शांति-प्राप्ति के लिए जरूरी है कि व्यक्ति ईर्ष्या से बचें। इसी तरह दूसरों की उपलब्धियों को भी सहन करना सीखें। अच्छा तो यह रहे कि इसके लिए प्रमोद भावना का विकास करें। स्वयं के विकास का मार्ग भी इससे प्रशस्त होगा। यदि हमारे साथी-स्वजन ने कोई प्रगति की है और हम नहीं कर सके, तो अपनी कमियों को पहचानकर सकारात्मक चिंतन करें। स्वयं को देखें और अपनी कमियों को दूर करें। यही श्रेयस्कर होगा।

मानसिक शांति के लिए यह भी आवश्यक है कि अतीत में भोगे हुए दुखों को कभी याद न किया जाए। फटे हुए दूध पर चिल्लाने से क्या लाभ होगा? अतीत से शिक्षा लें, किंतु दुख का संवेदन न करें। भोगे हुए दुखों के स्मरण से कौन-सा उद्देश्य पूरा हो सकेगा? अच्छा यही है कि वर्तमान में जीने का अभ्यास करें। कार्यक्षमता और कार्यकुशलता की अभिवृद्धि के लिए भी यही श्रेयस्कर है कि अधिक-से-अधिक वर्तमान क्षणों में रहें।

जीवन में शांति और सफलता के लिए सद्भावना-प्राप्ति का प्रयास भी होना चाहिए। इसके लिए सहयोग और सापेक्षता का विकास जरूरी है। निस्वार्थ और निरभिमान बनकर की जाने वाली सहायता दूसरों के मन में सद्भावना पैदा करती है। इसकी प्राप्ति 'टॉनिक' की तरह शक्तिवर्द्धक होती है। समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति सहायतानिरपेक्ष नहीं हो सकता। सेवा और सहयोग जीवन के ऐसे तत्त्व हैं जो अपनत्व की अनुभूति में सहायक बन जाते हैं। सबके प्रति मैत्री और करुणा का भाव व्यक्ति को महान बना देता है।

आराध्य के प्रति घनीभूत आस्था व्यक्ति को अनेक संकटों से उबार देती है। दुख को सुख में बदलने का मंत्र है 'आस्था'। सत्य के प्रति आस्था और सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। आस्था जितनी गहरी होगी, जीवन उतना ही उन्नत बनेगा। सदैव यह सोचें कि हमारी आत्मा सिद्ध-स्वरूप है—यह आत्मानुभूति का विषय बने। आनंद के द्वार तब अनवरत उद्घाटित होते चले जाएंगे। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

अणुव्रत आंदोलन की अलख जगाने के लिए एक लाख किलोमीटर की कष्टकर पदयात्राएं कीं। साधु-साध्वियों को देश के कोने-कोने में भेजा। व्यक्ति-व्यक्ति से संपर्क स्थापित किया। भ्रांत मानव समाज को सादगी व संयम के जीवन की ओर अग्रसर किया। संप्रदायातीत आंदोलन होने के कारण सभी वर्ग के व्यक्तियों ने इसे समझा और अपनाया। आपने संप्रदायमुक्त धर्म की परिभाषा दी और कहा कि अहिंसा, सत्य, ईमानदारी जिसके जीवन में हो, वही व्यक्ति धार्मिक है। वह व्यक्ति चाहे किसी धर्मस्थान में जाकर किसी तरह की उपासना न करे, वह सच्चा धार्मिक है। व्यक्ति का सम्यक् व्यवहार ही जीवंत धर्म है। इसी का परिणाम है कि एक संप्रदाय के अनुशास्ता होते हुए भी आपकी पहचान संप्रदायातीत बन गई।

एक अमाप्य व्यक्तित्व

❑ साध्वी अशोकश्री ❑

ख्यातनाम दार्शनिक-मनीषी और भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन की पुस्तक 'लिविंग विद परपज' में जिन महान चौदह व्यक्तियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है उनमें एक नाम गणाधिपति श्री तुलसी का है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी गणाधिपति श्री तुलसी का नाम अग्रणी है। जिसने स्वार्थ चेतना से परे हटकर सदा परार्थ के लिए जीवन जीया, उनका नाम सदा ही अमिट अक्षरों में अंकित हुआ है। जीवन जीना हर किसी की वैयक्तिक स्वतंत्रता है। वह चाहे तो अपने परिवार तक सीमित क्षेत्र में बंधा रह सकता है और चाहे तो पूरी मानव जाति ही उसका परिवार हो सकता है। गणाधिपति तुलसी ने पूरी मानव जाति को ही अपना परिवार माना। इसी का परिणाम है कि मानव कल्याण के लिए उन्होंने अपना समूचा जीवन अर्पित कर दिया। उन्हीं व्यक्तियों का जीवन सार्थक माना जाता है जो स्वार्थ-चेतना से ऊपर उठकर जीते हैं।

नौवां महाप्रयाण दिवस, आषाढ़ कृष्णा तृतीया

कहा भी है कि किसी देश को दार्शनिक, चिंतक और मनीषी ही दिशा दे सकते हैं। प्रबुद्ध चिंतकों ने दिशा-भ्रमित राष्ट्रों का सदा ही पथ-दर्शन किया है। इतिहास के पृष्ठों पर महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर व महात्मा गांधी के नाम अंकित हैं जिन्होंने देश को समसामयिक दिशा-निर्देश दिए। समसामयिक स्थितियों के परिष्कार में गणाधिपति श्री तुलसी की भूमिका भी अग्रणी रही है। 2 मार्च, 1949 को अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात कर गिरते जा रहे नैतिक एवं मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठा प्रदान करने का बीड़ा आचार्य तुलसी ने उठाया, जिसकी उपयोगिता और प्रासंगिकता सदा शाश्वत है। प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान इनके दूसरे दो अनुपम प्रकल्प हैं जो अणुव्रत के पूरक भी हैं और इनका स्वतंत्र अस्तित्व व मूल्यवत्ता भी है। जीवन-परिष्कार एवं तनाव-मुक्ति के लिए ये मौलिक आयाम हैं और अंतरराष्ट्रीय स्तर तक इनकी महत्ता स्वीकारी जा चुकी है।

राजस्थान के नागौर जिले के लाडनूं कस्बे में मां बदना की कुक्षि से जिस तेजस्वी शिशु ने जन्म लिया उसने अपने गौरवर्ण, मझले कद, चमकदार आंखों, सुघड़ शरीर से हर जन को अपनी ओर खींचा। ग्यारह वर्ष की छोटी अवस्था में ही तेरापंथ के अष्टमाचार्यश्री कालूगणी के पास यह किशोर दीक्षित हुआ और इसी के साथ अध्ययन का

क्रम भी प्रारंभ हो गया। आगम, दर्शन, सिद्धांत, न्याय, गणित आदि अनेक विषयों का गहराई से अध्ययन किया। अपने इस अध्ययन के साथ बीस हजार श्लोक कंठस्थ कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। बाईस वर्ष की अवस्था में गंगापुर (मेवाड़) में तेरापंथ के आचार्य पद पर आरूढ़ हो गए, जो तत्समय की विरल घटना मानी गई। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही तेरापंथ संघ में शैक्षणिक विकास का क्रम प्रारंभ हो गया। तीन-चार दशक पूर्व साध्वी समाज की ज्ञान के क्षेत्र में क्या स्थिति थी, वह किसी से छिपी नहीं। अनेकशः साधुगण भी परिष्कृत शुद्ध हिंदी में अपने भावों को अभिव्यक्त नहीं कर सकते थे। साध्वी समाज तो सभा मंच पर खड़े होकर गीतिका गाने में भी संकोच महसूस करता था। आचार्यश्री तुलसी की सतत प्रेरणा और अथक परिश्रम से जो विकास हुआ, वह अब सर्वविदित है, किसी से छुपा हुआ नहीं है। हिंदी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, बंगला तथा गुजराती सहित कई भाषाओं में आज अनेक साध्वियां अधिकृत प्रवक्ता हो गई हैं। कवि, लेखक, चिंतक, साहित्यकार और अवधानकार आदि विभिन्न रूपों में विराट शिष्य समुदाय आपने तैयार किया। आचार्यश्री तुलसी के अनवरत श्रम का ही यह परिणाम है कि उनका शिष्य समुदाय शिक्षा के हर क्षेत्र में आज गतिमान है।

प्रकीर्णक ग्रंथ चंदगवेज में आचार्य को दीपक की उपमा से उपमित किया गया है—

जहदीवा दीव सयं पइप्पए सोउ दीप्पए दीवो।
दीप समा आयरिया अप्पं च परं च दीवन्ती।।

दीपक स्वयं जलता हुआ सैकड़ों-सैकड़ों दीपों को प्रज्वलित कर देता है। इसी प्रकार आचार्य स्वयं ज्योतिर्मय बनकर हजारों-हजारों व्यक्तियों का जीवन ज्योतिर्मय बनाते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने भी अपने पूरे संघ में ज्ञान-चेतना को जाग्रत किया।

अणुव्रत आंदोलन की अलख जगाने के लिए एक लाख किलोमीटर की कष्टकर पदयात्राएं कीं। साधु-साध्वियों को देश के कोने-कोने में भेजा। व्यक्ति-व्यक्ति से संपर्क स्थापित किया। भ्रांत मानव समाज को सादगी व संयम के जीवन की ओर अग्रसर किया। संप्रदायातीत आंदोलन होने के कारण सभी वर्ग के व्यक्तियों ने इसे समझा और अपनाया। आपने संप्रदायमुक्त धर्म की परिभाषा दी और कहा कि अहिंसा, सत्य, ईमानदारी जिसके जीवन में हो, वही व्यक्ति धार्मिक है। वह व्यक्ति चाहे किसी धर्मस्थान में जाकर किसी तरह की उपासना न करे, वह सच्चा धार्मिक है। व्यक्ति का सम्यक् व्यवहार ही जीवंत धर्म है। इसी का परिणाम है कि एक संप्रदाय के अनुशास्ता होते हुए भी आपकी पहचान संप्रदायातीत बन गई।

आचार्यकाल के पचीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में सन् 1961 में गंगाशहर में धवल समारोह का आयोजन किया गया। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने आपको अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया। षष्टिपूर्ति के अवसर पर तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीनअली अहमद साहब ने आचार्यश्री तुलसी का विशेष सम्मान किया। 4 फरवरी, 1971 को बीदासर में 'युगप्रधान' पद से अलंकृत किया गया। जैन परंपरानुसार 'युगप्रधान' पद उन्हीं आचार्यों को दिया जाता है, जिन्होंने धर्म को नूतन ऊंचाइयां दी हों। आपने जैन धर्म को जन-धर्म बनाने का अथक परिश्रम किया। सन् 1986 में उदयपुर की राजस्थान विद्यापीठ द्वारा आपको 'भारत ज्योति' उपाधि से विभूषित किया गया। यह अलंकरण तत्समय के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने भेंट किया। 14 जून, 1993 में उच्चतर तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ (वाराणसी) द्वारा 'वाक्पति' की उपाधि दी गई। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार भी सन् 1992 में दिया गया। यह पुरस्कार उन्हीं संस्थाओं या व्यक्तियों को दिया जाता है जिन्होंने राष्ट्रीय एकता के विकास में योगदान दिया हो।

आपको पाकर उपाधियां और अलंकार स्वयं ही कृतार्थ हो गए। इनका गौरव स्वतः बढ़ गया। अलंकरणों, उपाधियों और पदों के प्रति आचार्यश्री तुलसी कभी आकर्षित नहीं हुए। इसी का परिणाम रहा कि आपने आचार्य पद का भी विसर्जन कर दिया। इतिहास के पृष्ठों पर यह एक विरल घटना मानी गई। यह उल्लेख नहीं मिलता है कि किसी आचार्य ने अपने जीवनकाल में आचार्यपद का विसर्जन किया हो, पर आपने सन् 1994 में आचार्य पद का विसर्जन कर अभूतपूर्व इतिहास रच डाला।

ऐसे अमाप्य व्यक्तित्व को शब्दों में बांधना बहुत कठिन है। आपकी हर घड़ी, हर क्षण पुरुषार्थ के द्वार पर दस्तक देते हुए ही गुजरा। आपका कुशल कर्तृत्व और सफल नेतृत्व संघीय तथा राष्ट्रीय सीमा में ही आबद्ध नहीं रहा, बल्कि अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर भी चमक उठा। समण-समणी संकाय की स्थापना और सात समंदर पार जाकर इनके द्वारा आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण इसका जीता-जागता प्रमाण है। ❖

हम लौट रहे थे। लौटते समय लगता है न कि हम बड़े जल्द लौट आए? मेरी देह, मेरा मन बराबर यह अनुभव कर रहा था कि इतना सुख अंट नहीं पाएगा। देह में अवांछित नहीं टिक पाता, वैसे ही मन में अतिरेक नहीं समा पाता है।....तभी एक विशाल पंडाल में तेज रोशनी दिखलाई दी, जिसके बाहर दो-चार लोग खड़े हुए थे। जिज्ञासा अवश्य हुई कि इस कुवेला में, इतनी रात गए यहां क्या हो रहा है? निश्चय ही कोई प्रवचन हो रहा होगा। डर लगा कि यदि किसी ने प्रवचन सुनने का आग्रह किया तो अपने भीतर जो नाद का झाड़फानूस लक-दक कर रहा है, वह सदा के लिए टूट कर बिखर जाएगा। मैं इस समय किसी भी, कैसी ही भाषा को अपने और इस संगीत के बीच सहन नहीं कर सकता। लगा कि सारी भाषाएं मेरे लिए अब व्यर्थ हैं। मैं बिना भाषा के भी रह सकता हूं, पर अपने भीतर जो अमूल्यता मैं इस समय अनुभव कर रहा हूं उसे किसी भी मूल्य पर नष्ट नहीं होने दे सकता।

कहानी

आमी जे जलसाघरे

❑ श्रीनरेश मेहता ❑

कुंभ का अंतिम नहान हो चुका था। उतरते माघ और लगते फाल्गुन का जाड़ा बड़ा भारतीय-सा लगता है। कैसी पारिवारिक सुखदता होती है न? फाल्गुन के आते ही वनस्पतियां, नदियां, दूर देश को जाती सड़कें तथा गांवों को घेरे कुछ पगडंडियां—सब कैसी अपनी-सी लगने लगती हैं। आकाश में उड़ते हुए, पोखरों के किनारे, खेतों में चुगते बैठे बड़े-छोटे पाखी बंधु-बांधव हो जाते हैं। मनुष्य और प्रकृति में सगोत्रता आ जाती है। इन दिनों का आकाश भी मृगचर्म की भांति कोमल-चिकना सजीव हो उठता है।

अंतिम नहान के बाद एक प्रकार से शेष यात्री भी अपनी अनाम संज्ञाओं के साथ अपनी देशजताओं में लौट जाते हैं। चेष्टा करने पर भी मेला घूमने तक नहीं जा सका था। पता नहीं, जो बहुत अच्छा लगता है वही सहज नहीं रह जाता। प्रायः होता है न कि लहराते धान के बीच हवा को मुंह पर अनुभव करते खड़े रहना कितना अच्छा लगता है, पर यह सहज उपलब्ध कहां है? जो सहज है उसकी चर्चा करते भी तब अच्छा नहीं लगता है।

जब बंधु-बांधव के साथ मेला-क्षेत्र पहुंचा तो लगा कि मैं किसी अविश्वसनीय युग में पहुंच गया हूं। जब अच्छे लगने से अधिक की स्थिति होती है तो उसे युगातिक्रमण कहना उपयुक्त नहीं है? धर्म ने सदा मुझे न केवल आमंत्रित ही, वरन मोहित भी किया है, पर मैं धार्मिक नहीं बन सका। धर्म और काव्य तो मुझे अपने स्वत्व के पर्यायवाची लगते हैं, परंतु धार्मिकता, राजनीति अपने व्यक्तित्व के प्रति आक्रमण लगते हैं। उदात्त से कम कुछ भी स्वीकारने में बस एक संकोच है। लगता है कि मैं गंगा-घाटी में हूं जिसे गंगा-वेग ने ऐसे ही स्वरूपा है, अन्य स्वरूपने वाला कौन होता है? बांध पर पहुंच कर जैसे पैरों के लिए ऊंचाई आ चुकी थी, परंतु वहां खड़े होकर अजीब प्रतीत होने लगा। अभिषेकित किए जाने का भाव घिर उठा। खुले आकाश में खड़े हो जाने पर लगता है कि अंतरात्मा तक की कलुषता धुल उठी है। कहीं कोई बाधा नहीं होती। हम कैसे अनायास संतरित होने लगते हैं? बांध पर खड़ा मैं कालपुरुष की अजस्रता से युक्त हो उठा था। देह से निकल कर क्षितिज छू आने की कभी यात्रा की है? देह तक वह द्वीप बन जाती है,

जहां समुद्रपाखी विभिन्न यात्राएं कर केवल विकास करने के लिए ही लौटता है। वैसे भी कैसी ही स्थूल ऊंचाई पर ही आप क्यों न खड़े हों, एक अव्यक्त तटस्थता स्वतः प्राप्त हो जाती है। यह हमें विशिष्ट नहीं, वरन विनम्र करती है। बांध पर खड़े होकर जब भी गंगा के प्रशस्त पौराणिक प्रवाह को अथवा जलहीन गंगादेह को देखा है तो सदा सच्चता के साथ सुगंध का भी अनुभव हुआ है। माटी जब भी ऊर्ध्व होती है, सुगंध देती है। इससे इतर कोई पवित्रता नहीं होती। हमारे व्यक्तित्व में भी जब पत्र-पादपत्व आता है तभी यह सुगंध पवित्रता आती है।

मेला क्षेत्र की ठंडी कृष्णा रात्रि में तथा विराट श्यामलता में व्यवस्थित बिजली की कतारें प्रकाश-सुख भले ही देती रही हों, परंतु आनंद पर आघात लग रहा था। ऊपर के तारों और नीचे के बल्बों में जैसे अवतरण का क्रम हो, परंतु ऐसा था नहीं। जो था वह अंधकार नहीं, बल्कि उसकी संज्ञा थी; कृष्णलीन श्यामा थी। मल्लाहों की झोपड़ियों से भीतर की संकोची आंच और बातचीत के जीवन-टुकड़े यहां-वहां छितरे हुए थे। पीपल की विशाल शाखा-प्रशाखाओं पर अंधकार जैसे सूखने के लिए फैला दिया गया था। गंगा पार तक के विस्तार में एक ऐसी सुंती कसावट के साथ स्वरहीन गमक भी, जैसे मृदंग की डूबी थाप हो। क्षितिज पर गहरे भाव से पेड़ों का क्षणिक आभास परिवृत्त में देखा जा सकता था। मेला क्षेत्र जाने वाला बड़ा-सा मार्ग नीचे की ओर रेंगता हुआ दो भागों में चिर उठा था। मनुष्य के अभाव में वस्तुएं और दृश्य तक अनाथ, निरीह हो उठते हैं। कई बार भ्रम होने लगता कि यात्रियों का कोलाहल उस मार्ग पर चढ़-उतर रहा है। सुदूर में रेल-पुल के पास, जहां कल्पवासियों की कुटियाएं थीं, वहां से किसी मल्लाह के गाने और कुत्तों की भौंक आ रही थी। कोई चिता, कैसी आंच की बिंदी लग रही थी। वहीं से कुछ लोगों का बोलना सुनाई नहीं पड़ रहा था, बल्कि चलकर आता लग रहा था। अधिकांश दुकानों के पंडाल खाली थे। एकाध आते-जाते व्यक्ति की परछाईं लंबी-छोटी होती हुई विलीन हो रही थी। यात्रियों के हठात चले जाने पर बल्बों की समझ में नहीं आ रहा था कि अब किसे प्रकाश दें। प्रकाश था कि व्यर्थ के पानी की तरह चारों ओर बहा पड़ रहा था। पानी निकालने के लिए लगाए गए इंजिन की आवाज अंधेरे में कहीं से आ रही थी। निर्जन सड़कों, पथों और वीथियों के गीलेपन तथा पुआलवाले गंदलेपन पर से जीप चली जा रही थी, जैसे मेला खोज रही हो। वातावरण में कोई हवा नहीं थी क्योंकि यज्ञशालाओं, आश्रमों पर फहराने वाली पताकाएं भी अंधकार को प्रकाशित नहीं कर रही थीं। चारों ओर की बालू पर असंख्य पदचिह्न अज्ञात, अनबांची धर्मलिपियों की भांति बिखरे हुए थे। थोड़े दिनों बाद लू और अंधड़ में इस धर्म-इतिहास के अधिकांश आलेख मिट जाएंगे और शेष को गंगा, एक दिन उफनाती आकर अपने में लीन कर लेगी। गंगा ऐसे कोटि-कोटि धर्म-इतिहासों का प्रवाह होती है। अनाम जनपदों से आकर प्रतिवर्ष इस इतिहास के प्रणेताओं को कभी किसी ने सहज जानने तक की चेष्टा की है? धर्म का यह इतिहास केवल पृथ्वी के पृष्ठों पर ही लिखा जाता है, परंतु संज्ञाहीन बनकर ही। हवाएं इन आलेखों को उड़ाकर कहां और क्यों ले जाती हैं, इसकी जिज्ञासा भी व्यर्थ है। धर्म, जिज्ञासा का नहीं, आस्था का उत्तर देता है।

ऐसा क्यों होता है कि संपूर्ण निर्जनता और एकांत में जो अंतर हुआ करता है उसे हमारा मन बूझ ले जाता है। जबकि वैसे देखने पर कोई अंतर नहीं दिखलाई पड़ता। मेला भले ही समाप्त हो गया था, किंतु अभी भी यहां कुछ लोग हैं जो अलाव तापते या कोई पद गाते बैठे होंगे, यह अज्ञात प्रतीति ही कैसा निर्मम बनाती है न? लोग हैं, यह भाव ही उत्सव लगता है। मुझमें इस प्रकार की औत्सविकता थी, परंतु साथ वाले व्यक्तियों को अवश्य ही इस प्रकार से मेला घूमना व्यर्थ लग रहा होगा।

मैं नहीं जानता कि मेले के लाउडस्पीकरों पर पहले से ही किसी वाद्य के मंद-मंद बजाए जाने का आभास था या नहीं, परंतु सहसा ही उस ओर ध्यान गया था। ऐसा साक्षात विशेष आयोजन, अनुष्ठान एकांत में ही संभव है। प्रत्येक लालित्य, लयात्मकता, कोलाहल में नहीं, एकांत में ही संलाप करता है। परंतु, प्रायः हम सार्वजनिकता और कोलाहल-प्रिय ही होते हैं, इसीलिए अधिकांश श्रेष्ठताओं से वंचित रहते मुझे लगा कि मैं गंगा और संगीत, दोनों, के एकांत को भोग रहा हूं। वातावरण में अब तक जो एक प्रकार का दबाव लग रहा था, उसमें वादन की सुगंध भी थी। सहसा सुनने पर यही लगा कि यह सितार है, जो कि निष्णात बजाई जा रही थी। सितार का निष्णात वादन— इस आश्वस्ति के कारण भी सितार-गंधर्व रविशंकर अपनी सुदर्शनता में मूर्त हो उठे। भाषा स्वर और व्यंजन होती है, पर संगीत केवल स्वर, इसीलिए उसका आनंद इंद्रियातीत

तथा अनभिव्यक्त होता है। रविशंकर को पूर्वी बहुत प्रिय है, पर इस समय तो यह विहाग का आलाप था। कुंभ, गंगा-तट, फाल्गुन रात्रि, विहाग वादन....तब जलसाघर और क्या होता है!! भाषाहीन संगीत का अर्थ कस्तूरी की गंध की भांति, मुझे मृग किए दे रहा था। यदि इस परिपार्श्व में ऐसा निष्णात वादन न होता तो वह विराट का कितना बड़ा अपमान होता। विराट के संबोधन के लिए नाद ही है, भाषा नहीं। सृष्टि के विभिन्न अनुभवों की अपनी-अपनी नाद-भाषा है और मनुष्य यह ऋजुता संगीत से ही प्राप्त कर सकता है।

संगम पर जब हम पहुंचे तब भी विहाग, आलाप ही ले रहा था। कुछ उलझन हुई कि क्या यहां के आयोजक एक ही रेकार्ड बराबर बजाए जा रहे हैं? सामान्यतः ऐसी परिष्कृत रुचि कहां होती है? मैं आभारी हुआ। अनेक बार संगम विविध कारणों, प्रसंगों से गया, परंतु सघन कृष्णा रात्रि में तथा आलापते विहाग के साथ कब आना हुआ है? संगम में बने मंचों के बीच से प्रवाह का कलकल स्वर आ रहा था। जल अपनी नाद-भाषा में निरंतर कुछ बोलता है जिसे हम मात्र कलकल कहकर छुट्टी पा लेते हैं। हिमालय में जो रौद्रकंठ है, वह यहां तक आते-आते करुणासिक्त मंद्र बांशीरव-सा हो गया था। इसका कारण गंगा का मैदान में आ जाना मानना, एक सत्य के साक्षात से वंचित रह जाना होगा। गंगा काशी जा रही है, यह विचार ही मुझे झंकृत किए दे रहा था। काशी मेरे लिए वही नहीं है जो किसी अन्य के लिए है, हो ही नहीं सकती। प्रतिदिन मेरे अंतर में कोई संकीर्तन होता है। अहल्याघाट है। कोई गौड़ीय साधु, रामप्रसाद के 'मां! गान जदि तोर शोनार एतोई इच्छे, तो ओमुखे की शूनवी? छेलेर दिके एक बार चेये देख' पद गाते हुए रासभाव में तन्मय हो उठता है और मैं इस भाव के हिमकंठों को अपने व्यक्तित्व के दूर्वादल पर नाना रंगों में उद्भासित होते देखता हूं। मैं आरण्यकता की इस सुगंध से आकंठ सुवासित हो जाता हूं। वर्षों बाद गंगा-तट पर इस वैष्णवता से साक्षात हुआ है। इस वादन के प्रति केवल नमित होने के, मेरे पास और क्या है?....परंतु.... ऐसी गंभीर गमक तो सितार में नहीं होती है।....नहीं, नहीं होती। हो ही नहीं सकती। सितार विलास से ऊपर उठकर तन्मयता तक तो पहुंच सकती है, पर यह गमक तो चिन्मयरूपा है....तब!! यह निश्चय ही वीणा है, लेकिन ऐसा निष्णात वीणा-वादक कौन हो सकता है? अलाउद्दीन खान, अकबर अली....ये तो सरोदवादक हैं और वादन भी दाक्षिणात्य शैली का नहीं है....तब कौन है यह??

जिस तंबू के सामने प्रशस्त भाव से बैठे हुए लोग कुछ खा-पी रहे थे, उसमें बैठना कठिन हो रहा था। निश्चय ही इन लोगों के लिए अनुष्ठान की अपूर्वता का कोई अर्थ नहीं था। ठीक भी है। सबका व्यक्तित्व पीपल-पत्री हो ही नहीं सकता। परंतु यह वादक कौन है? अजीब बेचैनी थी। बिना वादक को जाने तो सदा के लिए अपूर्णता सालेगी। यह सारा प्राकृतिक एवं सांगीतिक अनुष्ठान मुझे अधिकाधिक अकेला किए दे रहा था। वादन था कि मुझे मथे जा रहा था। अरणियों के मंथन से अग्नि उत्पन्न होती है और नारी देह के मंथन से प्रजा, परंतु मुझे अपने भीतर असंतोष अनुभव हो रहा था। स्वर और नाद की अपार गंध में बैठ पाना असंभव हो गया था। आलाप समाप्त हो चुका था। तबले का ठेका सुनाई देने लगा था। यह तो अच्छा हुआ कि चूंकि वहां कुछ भी नहीं था, अतः लोग चलने को उठ खड़े हुए। लौटने में भी प्रत्येक खंभे से वादन नीचे उतर कर हम तक आता और फिर स्मृति-सा पीछे छूट जाता। जब भी स्मृति-सा पीछे कुछ छूटता है, उस क्षण हम विवश युधिष्ठिर ही तो होते हैं। यह कैसा हमारा मन है कि हम प्रत्येक बात का कार्य-कारण जब तक नहीं जान लेते तब तक कैसी अपरिभाषित विकलता या अव्यक्त असुरक्षा तक अनुभव करते हैं न? मनुष्य, निरपेक्ष, न सुख, न आनंद, भोग ही नहीं सकता। हां, जान लेने के बाद भले ही परिरंभण के बाद वाली श्लथता अथवा वितृष्णा ही क्यों न हो, पर लगता है कि हम अपनी देह में, देह के साथ हैं।

हम लौट रहे थे। लौटते समय लगता है न कि हम बड़े जल्द लौट आए? मेरी देह, मेरा मन बराबर यह अनुभव कर रहा था कि इतना सुख अंट नहीं पाएगा। देह में अवांछित नहीं टिक पाता, वैसे ही मन में अतिरेक नहीं समा पाता है।....तभी एक विशाल पंडाल में तेज रोशनी दिखलाई दी, जिसके बाहर दो-चार लोग खड़े हुए थे। जिज्ञासा अवश्य हुई कि इस कुवेला में, इतनी रात गए यहां क्या हो रहा है? निश्चय ही कोई प्रवचन हो रहा होगा। डर लगा कि यदि किसी ने प्रवचन सुनने का आग्रह किया तो अपने भीतर जो नाद का झाड़फानूस लक-दक कर रहा है, वह सदा के लिए टूट कर बिखर जाएगा। मैं इस समय किसी भी, कैसी ही भाषा को अपने और इस संगीत के बीच सहन नहीं कर सकता। लगा कि सारी भाषाएं मेरे लिए

अब व्यर्थ हैं। मैं बिना भाषा के भी रह सकता हूं, पर अपने भीतर जो अमूल्यता मैं इस समय अनुभव कर रहा हूं उसे किसी भी मूल्य पर नष्ट नहीं होने दे सकता। जीप जब तेजी से पंडाल के सामने से गुजरी तो झलक से लगा कि मंच पर कोई संन्यासी बैठा हुआ है। जीप के न रुकने पर बड़ा संतोष हुआ....पर वह संन्यासी....शायद प्रवचन करता तो नहीं लग रहा था....वह शायद कोई वाद्य....निश्चय ही उसके हाथों में कोई वाद्य ही था....नहीं वीणा...क्या यही वह वीणा बजा रहा है?

पंडाल में सच ही वीणा-वादन हो रहा था। भीतर जाने को मन नहीं हुआ। पंडाल में भीड़ होगी ही और यहां बाहर बड़ा ही सुखद खुलापन था, साथ ही अपने चारों ओर लोगों की उपस्थिति की असुविधा भी नहीं होगी। लोग इस प्रकार के अनुष्ठानों में भी केवल अपने को ही प्रस्तुत करते रहने की चेष्टा में आपके लिए असुविधा होते हैं। जबकि इस प्रकार के आयोजनों में ही कुछ देर के लिए ही हम स्वतः से विसर्जित हुए रहते हैं, अन्यथा जीवन-भर हम अपने को तो लिए रहते ही हैं। इसके लिए क्या किया जा सकता है? जीप के पास ही खड़े-खड़े वादन सुनते रहे। परंतु हमारा मन भी क्या है कि प्रिय को, चाहे वह व्यक्ति हो या वस्तु, पहले तो जानना चाहता है। जान लेने के उपरांत नैकट्य चाहता है और उसके बाद उस पर एकनिष्ठ अधिकार चाहने लगता है। तभी किसी ने कहा कि पंडाल तो खाली जैसा ही है, क्यों न भीतर चलकर ही सुना जाए? सच ही पंडाल तो खाली जैसा ही था। प्रसन्नता से अधिक झटका लगा कि इतने अप्रतिम अनुष्ठान में लोग कैसे नहीं हैं? पर वास्तविकता थी कि उस विशाल, सुसज्जित पंडाल में यहां-वहां आठ-दस व्यक्ति छितरे बैठे थे। सामने के सोफों पर कोई नहीं था। कार्यक्रम के बीच में इस प्रकार से जाना उचित भी नहीं लग रहा था, परंतु अपमान से अधिक अपराधभाव अपने में लग रहा था। एक निष्णात वादन, जिसका कोई साक्षी नहीं—तब अपराध क्या होता है? जो थे, उन्हें अपात्र कहने का मुझे क्या अधिकार है, परंतु लगा कि ये संयोग से ही यहां हैं। बल्कि अपराध और अधिक उभर आया था।—ठीक ही तो है, यह कोई महफिल या मजलिस तो थी नहीं—जलसाघर था, जिसका प्रवेशद्वार दिशाओं तक उन्मुक्त था। वादक भी तो कोई अनाम संन्यासी ही था। नाम, सांसारिकता का होता। वादक को किसी प्रकार के अपमान की प्रतीति नहीं थी। यह वादन की तन्मयता से स्पष्ट था और मेरे लिए यह अत्यंत संतोषजनक था। वह संन्यासी; उदासी संप्रदाय का तो नहीं ही होगा, परंतु वह हम सबके प्रति उदासीन अवश्य था। आद्यंत काषाय में तथा विवेकानंद की भांति साफा लपेटे वह व्यक्ति से अधिक प्रतिमा लग रहा था। उसके मुख की केश-राशि उसे सर्वथा विशिष्ट किए हुए थी, परंतु उसमें कहीं ऐसी अभेद्य साधारणता भी थी जिसे परिभाषित ही नहीं, बल्कि दिखलाई भी नहीं जा सकती थी। तबलिया अपेक्षाकृत नवयुवक था, पर लग रहा था कि वह भी संन्यास की ओर ही अग्रसर था। वह मंच, वह वादन और वे वादक इतने अधिक यथार्थ थे कि उन्हें केवल अविश्वसनीय ही कहा जा सकता था। जैसे किसी प्राचीन भित्ति-फलक से यह मृण्मूर्ति (टेराकोटा) अलग से गिर पड़ा हो। युग और रचना में कोई साम्य, संबंध कुछ भी स्थापित नहीं हो पा रहा था। इस सीमा तक अपरिचित रह जाने का संकल्प व्यक्ति को अग्नि ही बना सकता है। सारी वेश-भूषाएं ऐसी देह पर भस्म हो जाएंगी—केवल काषाय!! संकल्प का वेश केवल काषाय ही हो सकता है।

वादन चल रहा था। निश्चय ही वादक देश-काल के प्रति, पात्रता-अपात्रता के प्रति, मान्यता-अमान्यता के प्रति असंपृक्त ही नहीं, उदासीन ही था। उसके और वादन के बीच न कोई व्यक्ति, न कोई स्थिति, कुछ भी नहीं था। बिना ऐसा असंपृक्त या उदासीन हुए कोई इतने अयाचित ढंग से, ऐसी सांसारिक निर्मम उपेक्षा के सम्मुख भी अपने स्वत्व की अपार करुणा को वैभव और आनंद के रूप में नहीं बांट सकता है। व्यक्ति जब प्रकृतिवत हो जाता है तभी ऐसी असंपृक्तता संभव है। राग का वैभव तभी बांटा जा सकता है जब अंतर में वैराग्य हो। द्रुत आरंभ के समय संन्यासी ने अपने उन्मीलित नेत्र आधे खोले और पीछे की ओर तिर्यक देखा, लगा कि उनमें आग्नेयता है। अपने में लीन नेत्र जब किसी ओर देखने लगते हैं तब उनमें तेजस्विता आ जाती है, जिसका सामना धर्मराज युधिष्ठिर तक नहीं कर सकते थे। इसीलिए तो गांधारी ने जब युद्धक्षेत्र में वर्षों बाद नेत्र-पटल खोले तो पार्थसारथी ने युधिष्ठिर को बलात् हटा लिया था। हटते-हटते भी अंगुलियों के नाखून सामने पड़ गए थे और वे जल उठे थे। वादक के नेत्रों की आग्नेयता तिर्यक थी, जिसकी लपक-भर दिखलाई दी थी।

काल, न वर्तमान होता है, न अतीत। वह तो अक्षर है। व्यक्तित्व जितना संस्पर्शी होगा, वर्तमान और अतीत का प्रक्षेपण-प्रतिप्रक्षेपण उतना ही अधिक होगा। उस व्यक्तित्व के लिए अतीत क्या, वर्तमान भी नहीं होता। कुंभ मेला, वह फाल्गुन गंध-रात्रि न जाने कहां पीछे छूट गए। केवल वह वादन, देश-काल की दूरियों से परे मेरे साथ संतरित था। मेरे सामने मांडवगढ़ मूर्त हो उठा। बाजबहादुर के रंग की दीवारों और मेहराबों में मशालों का आलोक चिलचिला रहा था। शमापात्रों की मोमबत्तियां आधी रात बीत जाने का संकेत कर रही थीं। विंध्या की इतनी ऊंचाइयों पर मालवी फाल्गुनी वायरा कदलियों को हिलाता हुआ अपनी सत्ता घोषित कर रहा था। 'जहाजमहल' के सामने के पुष्कर में स्वर्णकमलों को नींद आने लगी थी, परंतु न बाजबहादुर, न रूपमती, किसी को परितृप्ति नहीं हो रही थी। रूपमती के कंठ से निसृत भूप-कल्याण महलों, कंगूरों से निकलकर उस रात्रि-आकाश में एक विरही विलासी पाखी-सा दिगंत भूला हो रहा था—और मैं तब धीरे-से इतिहास के पन्नों के पलटे जाने की आवाज तक सुनता हूं। हमारे भीतर इतिहास ही नहीं, पुराणों तक के पलटे जाने की आवाज होती है, परंतु हम उसे अनसुना करते हैं।—आगरे के किले का साम्राज्यी वर्चस्व मेरे सामने पूर्ण हो उठता है। अकबर के सफल व्यक्तित्व की चकाचौंध और दीपक तथा तोड़ी गाते हुए तानसेन अजीब मायावी गंधर्वों की भांति दिखते हैं और विलीन होते हैं। इतिहास की यह यात्रा मुझमें अहोरात्र घटित होती है। यह कैसी पिपासा है जो नदियों, खेतों, मंदिरों, महलों में जई और पराजित, विलासी और संन्यासी, भोगरता और विरहिणी, सुखी और दुखी—सबके कंठों से अनादि काल से गाई जाती रही है। वाद्यों में पुकार, पुकार पड़ती है, पर—पर कोई उत्तर नहीं मिलता। इतिहास, पुराण, गाथा, शतपथ, अनाम साधारणता—सबमें यह अदम्य प्यास आक्षण घटित होती है। तृप्ति, परितृप्ति इस पिपासा से मुक्ति के लिए लांछिता गोपिकाएं विह्वला बनी यमुना-पुलिनों, करील कुंजों में हुमसती भागी जा रही हैं। राजरानी मीरा घाट-घाट, बाट-बाट गाती फिर रही है। न जाने कितने आसव-संपन्न रमणी-मुख कंगूरेदार गवाक्षों पर शून्य विलोकते विलीन हो रहे हैं। बंगीय भूमि की मंद जल-वाणी को पन्नालाल घोष की दैवीयवंशी, आरोह-अवरोह में गाती है, पर जल है कि उद्दाम असंपृक्तता में, न बाउल-संकीर्तन में, न मांझियों की भटियाली में, न सचिनदेव बर्मन की षड़जता में बंधना जानता है। आलाप से द्रुत, मीड़ से गमक, मुकरी से थाप लेते हुए कुमार गंधर्व और बेगम अख्तर, कबीर की असंगता और गजलों की विलासिता गाते ही चले जाते हैं, पर लगता है कि वृद्ध विंध्या के अंतर में जो जल अदृश्य हो गया है, गोमती में जो लयात्मकता कभी-कभी विलीन हो जाती है, उसे कुमार गंधर्व और बेगम अख्तर बारंबार आवाज देते हैं। ठाकुर ओंकारनाथ विद्यापति के पदों की भांति, बीजों की भांति धरती पर लोट-पोट जाते हैं....पर इस पिपासा-यात्रा का कहीं अंत नहीं होता। विलास मुरझा जाता है, शृंगार बासी हो जाता है, कीर्तन कंठों में ही विलीन हो जाता है और तब केवल गायक तथा वादक में से एक अनासक्त संन्यासी जन्म लेता दिखाई देता है.....क्यों?? उसकी दृष्टि में तब तुम या वनस्पति, दिवा या रात्रि, सान्निध्य या अपरिचय—किसी का कोई अर्थ नहीं। जब तक तुम्हारी संज्ञा होगी, पिपासाजई नहीं हो सकते। तुम एक हो या अनेक, मरुथल हो या हरीतिमा का ऐसे अनाहूत प्रकृतिवत संन्यासी व्यक्तित्व के लिए कोई प्रयोजन नहीं।....मैं नहीं कह सकता कि मैं वादक को देख रहा था या उसके टेराकोटा को। किस काल का, युग का वह टेराकोटा था, मैं नहीं जानता। टेराकोटा की कोई लिपि नहीं होती और यदि कोई लिपि होती भी तो मेरे लिए वह व्यर्थ ही होती। मेरा उस संन्यासी से भाषाहीन अबाध परिचय हो चुका था। वीणा थी, सिद्ध वादक था, वादन की अप्रतिमता निःसंदेह थी और था फाल्गुन रात्रि का वह जलसाघर, पर सब-कुछ अपनी निर्मम यथार्थता में वैसा अविश्वसनीय था।

जीप भागती चली जा रही थी। जब हम बांध पर चढ़ रहे थे तब भी वह वादन स्पष्ट था, यद्यपि अब उसकी परिसमाप्ति होने ही जा रही थी। मैं ऐसे वादन की परिसमाप्ति का साक्षात नहीं कर सकता था। समाप्ति वैसे भी साक्षात क़रने के लिए होती भी नहीं। मैं उस विहाग, उस वादन और उस संन्यासी वादक को गंगा-क्षेत्र के उस जलसाघर में छोड़ आया था, परंतु मेरे साथ उसका टेराकोटा सदा के लिए चला आया। मुझमें निश्चय ही अपराध भाव था कि मैं बहुत बड़ा अपमान करके आ रहा हूं। मैं इस अग्नितपे टेराकोटा को, संभव है, जीवन-भर वहन कर सकूं, पर उस वादन के बाद उस वादक का यदि साक्षात करना पड़ता तो—तो कौन पार्थसारथी मुझे बचाता? ❖

हरीश भादानी की कविताएं

वनदेवी की कथा अनूठी

जब-जब भी
कोई ललचाया
जैसे-तैसे लगे लूटने
इस ऐश्वर्यवती को,
मानवती यह बोले-बिन बोले ही
सजा सुनादे उसको
उससे सदा रहे यह रूठी!

रिमझिम बूंदें
जैसे ही हुलराये इसको,
लगे हिलाने हरियल हांसी,
आभे तिरता हंसराज भी
ताक-झांकता ही छू पाए,
खुले केशवाली सैरंध्री गुन-गुन गूंजे,
भीनी-भीनी महक उड़ाए,
मलमलिया बेलों-डालों पर
यह रसवंती फल दोलाए,
सतरंगे फूलोंवाली की
रहती कोख सदा अनखूटी!
देख-देख इस अनुपमा को
रीझे-रीझे ही रहते वे—
दिशा नापते थके बटोही
और दूधिया दांतों वाले,
अपने आंचल की छाया में
हर आवासित-निर्वासित को
समझ घराती
अपना हेत, हिया दे-दे कर
उससे रहती टूठी-टूठी!
वनदेवी की कथा अनूठी!

(ऋग्वेद 10-146-5)

ओ मरुतों के सागर!

नीली-नीली आभा वाले
इस अछोरिए मानसरोवर के वासी
ओ राजहंसजी!
अपनी दूधाई पांखों को इस अर्णव पर
फर-फर-फर-फर दप-दप करता
दोलायित तू रहे निरंतर,

धी वाले उस दीर्घ तमस की
महत् कल्पना—
तेरे अनकूते अजस्र तेजस को
सांस-सांस कर रंग-रंगों में
रूपायित होता रहता है
यह सारा अचराचर!

पहले तेरी मरीचिकाएं
सात सागरों वाली इस भूमा का
बूंद-बूंद पी जाती,
फिर ओ ओघड़! तेरे ही सातों हाथों से
उमड़-घुमड़ते झर-झरते से
हो जाती है तिरिया-मिरिया
मानवती मेरी माता की सरिताएं-झीलें,
तुझ ऐसे से
भरापूरा रहता है
इस जग-घर का वैभव,
सबसे रसमय रसमय होकर
रचते रहते
इसी रचित को
हम भू-जाए,
क्षण-प्रतिक्षण नश्वर होकर भी
हम तुझसे आखर!

लेकिन ओ ओजस भट्टारक!
तेरा प्राण नहीं
यह मरणशील जल
तेरे तो अणु-अणु को सींचे
वरुणलोकिया सरसवान वह,
तुझको रसवंता रखते
उस महावरुण को
सोमसिक्त करता रहता है
एक स्वयंभू
निभस्वान वैश्वानर! ❖

(ऋग्वेद 1-164-52)

शीलन

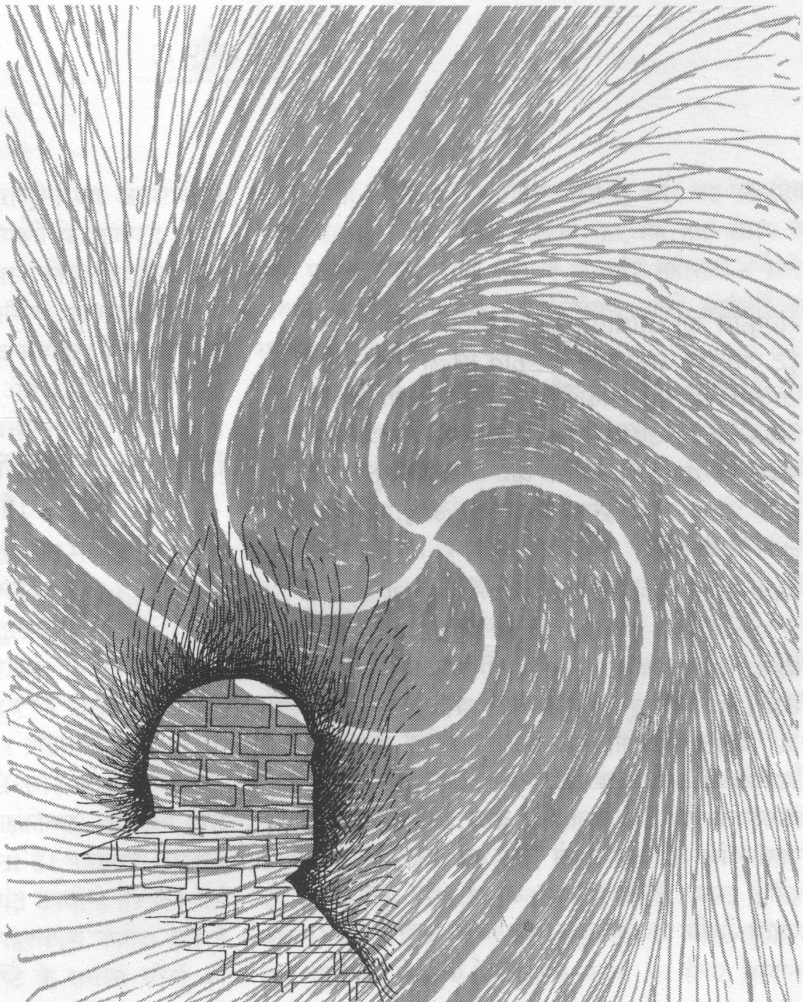

संस्कृति का आधार कुटुंब है। जिस रोज कुटुंब टूट जाएगा, उसी दिन संस्कृति छिन्न-भिन्न हो जाएगी। संस्कृति बदली नहीं जाती, टूटती ही है। संस्कृति का आधार क्या है?—साथ रहने की सहज-स्वाभाविक कला का नाम संस्कृति है और जहां साथ-साथ रहना न आए, उसका नाम विकृति है।

जिन दिनों आदिमानव के रूप में मनुष्य जंगलों में रहता था, उस समय वह साथ-साथ नहीं रहता था। इसलिए उन दिनों संस्कृति थी ही नहीं। पर, संस्कृति शुरू कब होती है?—जब हम सहज स्नेहभाव से साथ रहते हैं तब! दो व्यक्तियों का साथ रहना भी कोई साथ रहना कहलाता है? दो जनों के बीच झगड़ा कैसा! जहां ताश के बावन पत्ते मिलजुल कर साथ रहें और उनके बीच झगड़ा न हो, तब ही कहा जाता है कि वे मिलजुल कर बिना झगड़े रहें।

—मनुभाई पंचोली 'दर्शक'

हम पाते हैं कि प्राकृतिक संरक्षण में जैन संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अपने सांस्कृतिक आचार-विचार का अनुसरण एवं अभ्यास कर प्रकृति का संरक्षण किया जा सकता है। हम अपने विकास का ऐसा ढांचा तैयार करें कि जो पर्यावरण एवं सांस्कृतिक आधार को दृढ़ता प्रदान करने वाला सिद्ध हो सके।

आज न केवल हमारी संस्कृति या राष्ट्र, वरन समूची पृथ्वी भी ऐसे खतरे में है, जैसी कि पहले कभी नहीं रही। पर्यावरण को जिस व्यापक पैमाने पर नष्ट किया जा रहा है, स्वयं प्रकृति भी अकेले इस ह्रास की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, हमें पर्यावरण की इस सबसे बड़ी चुनौती को, जिससे कि हमारा और हमारी पृथ्वी का अस्तित्व जुड़ा है, स्वीकारना होगा और हमें स्वयं एक श्रेष्ठ पर्यावरण-संरक्षक बनना होगा।

❑

जैन सिद्धांत और पर्यावरण

❑ सुरेश जैन ❑

पर्यावरण-संरक्षण के लिए राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हो रहे अनेक प्रयत्नों के बावजूद पृथ्वी का पर्यावरण असंतुलित और वातावरण निरंतर प्रदूषित होता जा रहा है। पर्यावरण-संरक्षण में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं का अत्यधिक योगदान है। वैज्ञानिक कृत्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर पर्यावरण संबंधी सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। साथ ही प्राचीन मान्यताओं को विवेकपूर्ण तरीकों से पुनर्जीवित करना भी आवश्यक है।

जैन दर्शन में पर्यावरण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। पहले जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने पर्यावरण-संरक्षण और जैविक संतुलन बनाए रखने के लिए जिन सशक्त सिद्धांतों की स्थापना की थी, वे आज भी प्रासंगिक हैं। जैन परंपराओं में निहित मूलभूत पर्यावरण प्रतिमानों को प्रचलित करना चाहिए। इस पृथ्वी के छोटे-से-छोटे प्राणी, वनस्पति, यहां तक कि सूक्ष्म जीवाणुओं (माइक्रोब्स) की रक्षा और सम्मान करने की जैन धर्म प्रेरणा देता है। पर्यावरण-संरक्षण के लिए जैन मत की सभी बातें अत्यंत उपयोगी हैं। जैन धर्म समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है कि वह संपूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के समस्त जीवों की दीर्घायु की मंगलकामना नियमित रूप से करे। वह परमपिता परमात्मा की साक्षी में यह भावना भाए कि वर्षा समय पर और पर्याप्त हो, बाढ़ या सूखा न हो, कोई महामारी न फैले। समस्त जन, प्रशासनिक अधिकारीगण अपने कर्तव्यों का पालन सचाई एवं ईमानदारी से करें।

❑ विश्व पर्यावरण दिवस ❑
पांच जून

जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर अंकित प्रतीक-चिह्न प्रकृति एवं पर्यावरण-संरक्षण के अर्थ एवं संदेश के संवाहक हैं। ये चिह्न संबंधित तीर्थंकर के जीवनवृत्त एवं उनकी समकालीन प्रवृत्ति पर आधारित हैं। जैन तीर्थंकरों का प्राकृतिक संपदा एवं वन्य प्राणियों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। तीर्थंकर यह जानते थे कि मानव जगत प्रकृति पर निर्भर है। अतएव उन्होंने प्रकृति, वन्य-पशु एवं वनस्पति जगत के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण विभिन्न प्रतीक-चिह्न स्वीकार किए। 24 तीर्थंकरों के 24 चिह्नों में प्राणी-जगत से 13 चिह्न हैं। प्राणी-जगत के बैल, हाथी, घोड़ा, बंदर, हिरण एवं बकरा इत्यादि मनुष्य-जगत के लिए सदैव उपयोगी एवं सहयोगी रहे हैं। चकवा पक्षी समूह का प्रतिनिधि है। जल में रहने वाले मगर, मछली, कछुआ एवं शंख का जल-शुद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये जीव जगत के लिए वरदान-

स्वरूप रहे हैं। स्वस्तिक एवं कलश मांगलिक हैं, अतः क्षेमंकर हैं। वज्रदंड न्याय, वीरता एवं शौर्य का प्रतीक है। प्रकृति का महत्त्वपूर्ण घटक चंद्रमा शीतलता एवं प्रसन्नता का प्रदायक है। कल्पवृक्ष वनस्पति जगत का प्रतीक है। लाल एवं नीलकमल पुष्प-जगत के सुमधुर एवं सुरभित प्रतिनिधि हैं। पुष्प अपनी प्राकृतिक सुंदरता एवं सुकुमारता से शांति और प्रेम का संदेश प्रसारित करते हैं।

पर्यावरण-संरक्षण के ये प्रतीक तीर्थंकर-चिह्न भारतीय संस्कृति में पूरी तरह से रच-पच गए हैं, भारतीय·जीवन-पद्धति के अंग बन गए हैं। भारतवर्ष सघन वन तथा वन्य प्राणियों की प्रचुरता के लिए विख्यात रहा है। तीर्थंकरों ने चिह्नों के माध्यम से प्रकृति से अपना जीवंत संपर्क भी रखा। आवश्यकता है कि इस जीवंत इतिहास को आज विश्व के समक्ष पुनः उद्घाटित किया जाए। तीर्थंकर-चिह्न-समूह अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की अनुभूति का प्रवाही स्रोत है। चिह्नों की यह चौबीसी प्रकृति, वनस्पति, पशु एवं पक्षी जगत की महत्त्वपूर्ण अभय-वाटिका है। इस अभय-वाटिका से शांति का शाश्वत निर्झर प्रवाहित हो रहा है।

अनेक जैन धर्माचार्यों ने कहा है कि प्रत्येक उत्तरदाई जैन परिवार निम्नांकित निषेधों का कठोरतापूर्वक और नियमित रूप से पालन करें—1. कोई भी जन अपने गंदे वस्त्रों को प्रवाहित हो रही जलधारा में न धोए, ताकि उसमें रहने वाले सूक्ष्म जीवों की सुरक्षा हो सके। 2. कोई भी जन बगैर छना/अशुद्ध जल न पीए, ताकि शरीर रोगमुक्त रह सके और आस-पास का वातावरण दूषित होने से बच जाए। संसार के वैज्ञानिक मानते हैं कि जैन धर्म में पानी छानने की जो प्रथा प्रचलित है, वह उनके स्वस्थ शरीर के लिए उपयोगी है। यह प्रथा श्रेष्ठ स्वास्थ्य एवं आधुनिक सभ्यता की भी प्रतीक है। 3. किसी भी जलस्रोत से पानी निकालने के पश्चात् शेष बचे बगैर छने पानी को उसी जल स्रोत तक पहुंचा दिया जाए, ताकि सूक्ष्म जीवाणु अपने प्राकृतिक जैविक संतुलन को बनाए रखकर शांतिपूर्वक जीवित रह सकें। 4. जल की एक बूंद भी व्यर्थ नष्ट न करें, पेड़-पौधों से व्यर्थ ही फूल या पत्ते न तोड़ें, विद्युत या किसी भी ऊर्जा का एक अल्पांश भी व्यर्थ व्यय न होने दें।

इस तरह जैन धर्म ने पर्यावरण के मूल घटक—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के दुरुपयोग, अत्यधिक उपयोग या नष्ट करने से संबंधित सामाजिक एवं धार्मिक निषेध स्थापित किए हैं। प्रकृति के इन उपहारों का पूरा आदर हो और पर्यावरण भी प्रदूषित न हो—इन बातों का विशेष गौर किया गया।

जैन साधु अपने जीवन में 'इको-जैनिज्म' के सिद्धांतों का समावेश एवं अभिव्यक्तिकरण करते रहे हैं। जैन साधु अपने स्तर पर पर्यावरण संरक्षण एवं आत्मोन्नति के प्रतीक हैं। सभी साधुजन जल का दैनिक आवश्यकता हेतु बड़ी मितव्ययता से उपयोग करते हैं। अपनी दैनिक क्रियाओं के दौरान वे सूक्ष्म जीवों की प्राणरक्षा का भरसक प्रयास करते हैं। इस तरह मितव्ययता और प्राणी-रक्षा का संदेश उनके जीवन से अनवरत प्रचारित होता रहता है।

जैन संतों के विराट एवं पारदर्शी व्यक्तित्व में पर्यावरण की जीवंत प्रतिकृति के दर्शन किए जा सकते हैं। वे पर्यावरण के श्रेष्ठ संरक्षक हैं। वे हमेशा यही शिक्षा देते हैं कि हमें स्वच्छ पर्यावरण में रहना चाहिए। छना हुआ शुद्ध एवं स्वास्थ्यवर्द्धक जल ग्रहण करना चाहिए। प्रदूषण-मुक्त वायु का सेवन करना चाहिए। प्राकृतिक, स्वच्छ, शक्तिवर्द्धक एवं सात्त्विक भोजन लेना चाहिए। संशोधित आहार, तुरताहार या बासी भोजन, बिस्कुट, ब्रेड, डिब्बा-बंद एवं संरक्षित भोज्य सामग्री प्रयोग न करने की सलाह भी वे देते हैं। वे विविध रसायनों से संरक्षित करके दूर-दूर से आने वाले फलों की अपेक्षा स्थानीय ताजे एवं सस्ते फल एवं सब्जियों को ग्रहण करने के पक्षधर हैं। यदि हम इन शिक्षाओं एवं निर्देशों का नियमपूर्वक अनुसरण करें तो चिकित्सकों एवं औषधियों का प्रयोग सीमित हो सकता है। हम स्वयं अपेक्षाकृत ज्यादा स्वस्थ रहकर पर्यावरण को भी स्वस्थ बना सकते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्राकृतिक संरक्षण में जैन संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अपने सांस्कृतिक आचार-विचार का अनुसरण एवं अभ्यास कर प्रकृति का संरक्षण किया जा सकता है। हम अपने विकास का ऐसा ढांचा तैयार करें कि जो पर्यावरण एवं सांस्कृतिक आधार को दृढ़ता प्रदान करने वाला सिद्ध हो सके। आज न केवल हमारी संस्कृति या राष्ट्र, वरन समूची पृथ्वी भी ऐसे खतरे में है, जैसी कि पहले कभी नहीं रही। पर्यावरण को जिस व्यापक पैमाने पर नष्ट किया जा रहा है, स्वयं प्रकृति भी अकेले इस ह्रास की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, हमें पर्यावरण की इस सबसे बड़ी चुनौती को, जिससे कि हमारा और हमारी पृथ्वी का

अस्तित्व जुड़ा है, स्वीकारना होगा और हमें स्वयं एक श्रेष्ठ पर्यावरण-संरक्षक बनना होगा।

मनुष्य की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा बिना किसी कठिनाई के पूरी की जा सकती है। इच्छा जब बहुगुणित होकर कलुषित हो जाती है, तब उसे पूरी करना प्रकृति के लिए कठिन हो जाता है। मनुष्य की यह बहुगुणित इच्छा ही प्राकृतिक संकटों की जननी है। इसी कलुषित एवं बहुगुणित इच्छा की तुष्टि के फलस्वरूप पर्यावरण तहस-नहस होता है। वायु, जल, ध्वनि एवं दृश्य प्रदूषित हो जाते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की इच्छा बहुगुणित और कलुषित होती जाती है, उसकी संग्रह की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। उसका मन, चित्त, धवलता के स्थान पर कालिमा ग्रहण कर लेता है।

कालिमा के पक्ष को छोड़कर यदि हम धवलिमा के पक्ष पर अग्रसर हो जाएं तो पर्यावरण का संरक्षण एवं संवर्द्धन भी अग्रसर होने लग सकता है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के
विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं
का स्वागत है।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम–सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–
कविता भी भेज सकते हैं

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

क्या प्रसिद्धि की भावना असद् है? यह प्रश्न भी कई बार मस्तिष्क को झकझोरता है। परंतु इस प्रश्न को रूपांतरित कर देने से वही उसका समाधान हो जाता है—व्यक्ति अपने स्व की प्रसिद्धि की कल्पना न करे, परंतु स्वानुभूत सद्विचारों की प्रसिद्धि की कामना करें। इसमें प्रत्यक्षतः कोई बुराई नहीं दीखती। यहां सद्विचारों की प्रधानता और व्यक्ति की गौणता होती है। परंतु प्रकारांतर से सद्विचारों की प्रसिद्धि व्यक्ति की ही प्रसिद्धि है। सद्विचार जब महान व्यक्ति से नामांकित होकर प्रसार पाते हैं तब उनकी उपादेयता शतगुणित हो जाती है।

प्रसिद्धि : एषणा और मर्यादा

❑ मुनि दुलहराज ❑

मनुष्य में प्रसिद्धि की भूख क्यों होती है? इस प्रश्न को समाहित कर हम यहां उसके उत्तरवर्ती पहलुओं को छूने का प्रयास करेंगे।

एक प्राचीन श्लोक है—

'घटं भिंद्यात् पटं छिंद्यात् कुर्यात् रासभरोहरणम्।
येन-केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्'।।

इसका तात्पर्य है—अपने या पराए बर्तनों को तोड़कर या कपड़ों को फाड़कर या गधे की सवारी करके भी—किसी भी प्रकार हो, मनुष्य को प्रसिद्ध हो ही जाना चाहिए।

इस श्लोक को पढ़ते ही प्रसिद्धि की भूख जागृत हो जाती है, परंतु प्रसिद्धि के जिन साधनों का यहां संकेत किया गया है, उन्हें पढ़कर कुछ हास्य-सा भी होता है।

प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह लौकिक भूमिका में हो या लोकोत्तर भूमिका में, आकांक्षा और निरीहता के झूले में झूलता रहता है। भूमिका-भेद से इनके स्वरूप-भेद को हम सहजतया जान सकते हैं। परंतु एक भावना दोनों भूमिकाओं में अनुस्यूत रहती है—वह यह कि प्राप्ति के प्रति असंतोष और अप्राप्ति के प्रति बढ़ती हुई आकांक्षा। लौकिक व्यक्ति में जीवन, धन और पुत्र की एषणा प्रबल रहती है और अलौकिक में बंधन-मुक्ति की आकांक्षा। दोनों की आकांक्षाओं में तीव्रता है, एकतानता है, परंतु उद्देश्य की विभिन्नता से इनमें सरसता का भेद पैदा हो जाता है।

व्यक्ति परिस्थितियों का निर्माता होते हुए भी परिस्थितिजन्य वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। जब वह देखता है कि समाज में व्यक्ति प्रसिद्धि के बांटों से तोले जाते हैं, तब वह स्वयं अभिव्यक्त होना चाहता है। अभिव्यक्ति की एषणा उसमें प्रबल होती जाती है और वह अनेकानेक साधनों को अपनाकर उस मार्ग पर अग्रसर होता है। प्रत्येक चरण पर उसमें प्राप्ति के प्रति कुछ तोष और प्राप्तव्य के प्रति मधुर लालसा उभरती है। धीरे-धीरे वह प्रसिद्ध बनता चला जाता है। इस प्रसिद्धि के व्यामोह में वह यह भूल जाता है कि क्या वह उस प्रसिद्धि के योग्य है? इस प्रश्न के समाधान में यह प्रतिप्रश्न भी हो सकता है कि यदि उसमें प्रसिद्धि की योग्यता नहीं थी तो वह प्रसिद्धि आई कहां से? यह प्रश्न स्वाभाविक है। परंतु इसका समाधान भी अस्वाभाविक नहीं है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि मानव गतानुगतिक होता है। सर्वत्र वह अपनी तर्कणा का उपयोग नहीं करता। दूसरों की मान्यता और बुद्धि के पीछे ही वह अपना मत जोड़ता है। योग्यता के बलाबल की परीक्षा में वह नहीं पड़ता। जनश्रुतियां ही आगे बढ़ती हैं और अपनी भुजाओं में बहुतों को जकड़ लेती हैं। जनता की इस गतानुगतिकता के फलस्वरूप व्यक्ति ऊंचा उठ जाता है और प्रसिद्धि पा लेता है।

क्या प्रसिद्धि की भावना असद् है? यह प्रश्न भी कई बार मस्तिष्क को झकझोरता है। परंतु इस प्रश्न को

रूपांतरित कर देने से वही उसका समाधान हो जाता है—व्यक्ति अपने स्व की प्रसिद्धि की कल्पना न करे, परंतु स्वानुभूत सद्‌विचारों की प्रसिद्धि की कामना करें। इसमें प्रत्यक्षतः कोई बुराई नहीं दीखती। यहां सद्‌विचारों की प्रधानता और व्यक्ति की गौणता होती है। परंतु प्रकारांतर से सद्‌विचारों की प्रसिद्धि व्यक्ति की ही प्रसिद्धि है। सद्‌विचार जब महान व्यक्ति से नामांकित होकर प्रसार पाते हैं तब उनकी उपादेयता शतगुणित हो जाती है। यह श्रुति हमारे दैनंदिन जीवन में पग-पग पर अनुभूत होती है—अतः हम वास्तविकता को तिरोहित नहीं कर सकते। सद्‌विचारों की प्रसिद्धि की कल्पना यदि मिथ्याभिनिवेश से मुक्त है तो वह कोई बुरी नहीं है। परंतु, यदि स्वानुभूत विचारों को ही सत्य का अंतिम चरण मानकर उनके प्रसार की आकांक्षा उभरती है तो वह असत्य ही होगी। आग्रह में सूक्ष्म व्यामोह रहता है, जो कालांतर में व्यक्ति को मूढ़ किए बिना नहीं रहता। व्यक्ति में स्वविचारों के प्रचार का आग्रह न होकर यह हो कि जो सद्‌विचार हैं उनका प्रसार हो। ऐसा करने पर उसकी आकांक्षा भी पूर्ण होती है और प्रसिद्धि के आवर्त में फंसने की भी स्थिति नहीं बनती।

परमार्थ के पथ पर बहुजन हिताय की भावना अकिंचित्कर है। परमार्थ की साधना व्यक्तिनिष्ठ होती है। आत्मा उससे लाभान्वित हो—यही उसका ध्येय है। समूह के लाभ का यहां कोई विचार नहीं होता। साधना का मापदंड संख्या से नहीं, लक्ष्य की उच्चता से होता है। यह पारमार्थिक सत्य है।

दूसरा पक्ष है—सर्वप्राणीहिताय की भावना आत्म-साधना की स्फूर्त परिणति है। जो विचार आत्म-साधना में सहानुभूत हैं, उनके सर्वप्राणीहिताय किए जाने वाले प्रसार में विचारों का अहं नहीं होता, परंतु केवल प्राणी-कल्याण की भावना होती है। यह भावना आत्म-साधना की घटक है, विघटक नहीं, जहां लक्ष्य की उच्चता और संख्या की उपादेयता, दोनों, होती हैं। योग्य होते हुए भी किसी व्यक्ति में प्रसिद्ध होने की भूख तीव्र होती है और किसी में मंद। अयोग्य होते हुए भी कई व्यक्तियों में नाम की भूख प्रबल होती है और कई में नहीं। यह क्यों? इसका समाधान ज्योतिषशास्त्र के आधार पर भी किया जा सकता है। कई व्यक्तियों की जन्म-कुंडली में कई ग्रहों का ऐसा संयोग होता है कि यह भावना प्रबल और निबल बनती है। योग्यता होते हुए भी यश के प्रति अत्यंत उदासीन और योग्यता न होते हुए भी यश के लिए अत्यंत लालायित—इन दोनों रेखाओं पर दौड़ते हुए अनेक व्यक्तियों को हमने देखा है।

इन तथ्यों के आलोक में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रसिद्धि की कामना सद्-सत् दोनों है। परंतु इसकी मर्यादा का ज्ञान होना आवश्यक है।

इसकी मर्यादा है—

1. प्रसिद्धि की कामना स्व-व्यक्तित्व ख्यापन के लिए न हो।
2. प्रसिद्धि के लिए अपनाए जाने वाले साधन असद् न हों।
3. प्रसिद्धि के लिए स्वयोग्यता का मिथ्या ज्ञापन न हो।
4. तत्त्व-प्रसार की छाया में स्व-नाम की भूख न हो।
5. प्रसिद्धि की लालसा न हो।

इन मर्यादाओं से हमारा भला ही भला है। हम ऐसे बनें कि प्रसिद्धि हमारा अनुगमन करे। यदि यह होता है तो कोई बुराई नहीं। बुरा है हमारा प्रसिद्धि के अभिमुख होना। ❖

दर्शन और धर्म में बहुत अंतर है। यह हिंदू धर्म, यह इस्लाम धर्म, यह जैन, बौद्ध और ईसाई धर्म, सही माने में धर्म नहीं हैं। यदि धर्म हैं, तो भी दर्शन तो किसी हालत में नहीं हैं। मानव-मानव के बीच भेद की दीवार खड़ी करने वाला विचार दर्शन नहीं हो सकता। दर्शन विचारों को मांजता है, विचारों की समीक्षा करता है और सत्य की कसौटी पर कसता है। धर्म विचारों में जड़ता लाता है, आग्रह भरता है और अंधविश्वास पैदा करता है। ये सारे संप्रदाय आगे नहीं चल सकेंगे। आने वाला जमाना अंधविश्वासों को उखाड़ फेंकेगा, संप्रदायों को नष्ट कर डालेगा और जीवन को सही, सच्ची मर्यादाओं के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद प्रतिष्ठित करेगा। तब दर्शन जी उठेगा।

—डॉ. राधाकृष्णन्

'तो फिर सुनो,' दादाजी ने कहना शुरू किया, 'उस समय मैं लगभग पच्चीस वर्ष का था। मेरे दादाजी मुझे बहुत प्यार करते थे। वे मुझे डॉक्टर बनाना चाहते थे। मैंने भी उनका कहना मानकर डॉक्टरी की डिग्री प्राप्त कर ली। डॉक्टर बनकर जब मैं घर लौटा तो सभी लोग बहुत खुश हुए।
खासकर दादाजी। कुछ दिन बाद मेरी नियुक्ति कृष्णपुर नाम के एक छोटे-से गांव की डिस्पेंसरी में हो गई। जब मैं कृष्णपुर जाने लगा तो मेरे दादाजी ने मुझे सीने से लगाकर कहा, 'बेटे, सदा याद रखना कि तुम्हारा काम रोगियों की सेवा करना है। कभी किसी दुखी और जरूरतमंद को निराश मत लौटाना। अपने आराम और सुख-सुविधा से अधिक ध्यान अपने कर्तव्य पर देना।'

बालकथा

डॉक्टर दादा

❑ वंदना जोशी ❑

लाल ईंट की दीवारों वाला वह छोटा-सा बंगला था। उसकी छत ढलवां और सफेद रंग की थी। आगे छोटा-सा बरामदा था। बरामदे के एक तरफ ऊंचे-ऊंचे खजूर के पेड़ और रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियां थीं। दूसरी तरफ साफ-सुथरी एक पतली-सी पगडंडी थी। बंगले की चारदीवारी भी ईंटों की थी। चारदीवारी के गेट के दोनों ओर दो मजबूत खंभे थे। दोनों खंभों पर संगमरमर के शिला-फलक लगे हुए थे।

दाहिनी ओर के फलक पर लिखा था—'मानव की सेवा में—डॉक्टर सदानंद' और बाईं ओर के फलक पर लिखा था—'हिप्पोक्रेट्स हैवन'।

डॉक्टर सदानंद को सभी लोग डॉक्टर दादा कहकर पुकारते थे। डॉक्टर दादा लंबे-चौड़े शरीर के आदमी थे। पीछे की ओर कायदे से संवरे हुए बालों तथा घनी मूंछ के कारण वह बहुत ही धीर-गंभीर व्यक्ति लगते थे।

डॉक्टर दादा के बंगले पर सुबह से ही रोगियों की भीड़ लग जाती। उनके रोगियों में अधिकतर मजदूर और गरीब लोग होते। डॉक्टर दादा का एक नियम था कि वह किसी भी रोगी से पैसे नहीं लेते थे, बल्कि दवाइयां भी अपने पास से दे देते और रोगी को बिलकुल ठीक कर देते थे। अगर कोई उन्हें पैसा देना भी चाहता तो वह पैसा लेने से इनकार कर देते।

मैं हमेशा यही सोचता कि वह ऐसा क्यों करते हैं? मैंने अपने पिताजी से भी इस बारे में कई बार पूछा, पर वह भी इस बारे में कुछ नहीं जानते थे। लेकिन उन्होंने यह जरूर बताया था कि दवाइयां काफी महंगी आती हैं।

इस बार गर्मी की छुट्टियों में जब से मैं घर आया हूं, तब से हर रोज ही डॉक्टर दादा एक बार मुझे जरूर दिखाई दे जाते हैं। वे शाम को घूमने निकलते हैं तो मेरे घर के आगे से ही गुजरते हैं। उस समय मैं और मेरी बहन मुनिया बगीचे में खेल रहे होते हैं। हम उन्हें देखकर नमस्ते करते हैं। वे भी मुस्कराकर हमारी नमस्ते का जवाब देते हैं।

डॉक्टर दादा को देखकर मुझे अपने दादाजी की याद आ जाती है। हमारे दादाजी हमें रोज घुमाने ले जाते थे और रात को मजेदार कहानियां सुनाया करते थे।

उनकी कहानियों में देवी-देवता, परियां और भूत-प्रेत सहित महापुरुषों और वीर योद्धाओं के किस्से होते थे।

मेरे लिए डॉक्टर दादा एक कौतूहल का विषय थे। मैं ऐसे मौके की तलाश में था कि डॉक्टर दादा से कभी मिल सकूं और उनके बारे में जान सकूं।

मई का महीना था। खूब गर्मी पड़ रही थी। सुबह नौ-दस बजे से ही चारों तरफ तेज धूप फैल जाती। मां हमें घर से बाहर धूप में नहीं निकलने देती। घर में ही रहकर हम खेलते रहते या पढ़ते रहते। एक दोपहर मां सो रही थी। मैं खाली बैठे-बैठे ऊब गया था। मैंने धीरे-से दरवाजा खोला और बाहर आ गया। सामने ही आम का पेड़ था। उस पर बहुत-से पके हुए आम दिखाई दे रहे थे। मैंने सोचा कि कुछ आम तोड़ लूं। मुनिया जब सोकर उठेगी तब दोनों मिलकर खाएंगे। बड़ा मजा आएगा। मैं लपककर पेड़ पर चढ़ गया। कुछ ही आम तोड़ पाया था कि पेड़ की डाली पर से मेरा हाथ छूट गया। मैं धड़ाम से जमीन पर आ गिरा। गिरने से मुझे ज्यादा चोट तो नहीं लगी, पर कमर की चमड़ी छिल गई। मैं सोचने लगा कि अब मैं क्या करूं? अगर घर पर जाकर मां को बताऊंगा तो बहुत डांट खानी पड़ेगी। अगर नहीं बताऊंगा तो दर्द बढ़ जाएगा। मैंने फैसला किया कि डॉक्टर दादा के पास चलना ही ठीक रहेगा। फिर डॉक्टर दादा से मिलने का यह एक अच्छा मौका भी है। दादा का दरवाजा बंद था। दरवाजे में पीतल का मोटा-सा एक चमचमाता कड़ा लगा था। मैंने दरवाजे का कड़ा खटखटाया तो अंदर से आवाज आई, 'कौन है?'

मैंने कहा, 'डॉक्टर दादा, मैं हूं!'

'अच्छा रुको, मैं अभी दरवाजा खोलता हूं।' कहते हुए दादा ने दरवाजा खोला। बोले, 'अरे तुम! आओ-आओ, अंदर आओ!'

मैंने उन्हें नमस्ते की, चरण स्पर्श किया और उनके पीछे-पीछे कमरे में चला गया। कमरे में छत तक ऊंची-ऊंची अलमारियां थीं। उनमें मोटी-मोटी कीमती किताबें लगी हुई थीं। एक तरफ एक्स-रे मशीन लगी हुई थी और दूसरी तरफ एक बड़ी-सी मेज। इसके अलावा दो अलमारियां दवाइयों के डिब्बों, शीशियों से भरी हुई थीं।

'क्या नाम है तुम्हारा बेटे?' डॉक्टर दादा ने मुझसे पूछा। फिर कहा, 'इधर आकर बैठो!'

मैंने कुर्सी पर बैठते हुए कहा, 'मेरा नाम देवू है, देवनाथ।'

'अच्छा! अब बताओ, क्या बात है? कैसे आए?'

मैंने फौरन अपनी टी-शर्ट ऊपर उठाकर अपनी चोट दिखाई और कहा, 'दादाजी, कोई दवाई लगा दीजिए।'

'देखूं!' दादा ने चोट को पास से देखा, फिर कहा, 'अरे! यह तो काफी चोट लगी है। पेड़ पर चढ़े थे क्या?'

मैंने 'हां!' कहते हुए गरदन हिला दी।

'हूं, पेड़ पर चढ़ने का तो मुझे भी बहुत शौक था बचपन में।' कहते हुए उन्होंने रुई का फाहा दवाई में डुबोया और चोट पर लगा दिया।

दवाई लगाते ही जलन होने लगी तो मैंने कहा, 'दादाजी, इससे तो जलन होने लगी।'

'थोड़ी देर तो जलन होगी बेटे, फिर ठीक हो जाएगा!' कहते हुए दादा ने मेरी शर्ट नीचे कर दी।

अब मैंने कमरे में चारों तरफ देखा। बहुत दिनों से मैं जो जानना चाहता था, उसे जानने का यह अच्छा मौका था। मैंने हिम्मत करके कहा, 'दादाजी, एक बात पूछूं, आप बुरा तो नहीं मानेंगे?'

'नहीं बेटे! पूछो....पूछो, क्या पूछना चाहते हो?'

'दादाजी, आप रोगियों को देखते हैं, उन्हें दवाइयां भी देते हैं तो पैसे क्यों नहीं लेते?'

डॉक्टर दादा ने मेरी तरफ देखा, फिर कुर्सी पर टेक लगाते हुए बोले, 'बेटे, आदमी जीवन में जो-कुछ भी सीखता है, वह सब किताबों में नहीं लिखा होता। बहुत-सी बातें अपने अनुभव से भी सीखता है। मैंने भी अपने अनुभव से एक पाठ सीखा है। उसी का पालन कर रहा हूं।'

'कैसा पाठ, दादाजी?'

'बात बहुत लंबी है, सुनते-सुनते तुम ऊब तो नहीं जाओगे?'

'नहीं दादाजी, नहीं! आप सुनाइए!'

'तो फिर सुनो,' दादाजी ने कहना शुरू किया, 'उस समय मैं लगभग पचीस वर्ष का था। मेरे दादाजी मुझे बहुत प्यार करते थे। वे मुझे डॉक्टर बनाना चाहते थे। मैंने भी उनका कहना मानकर डॉक्टरी की डिग्री प्राप्त कर ली। डॉक्टर बनकर जब मैं घर लौटा तो सभी लोग बहुत खुश हुए। खासकर दादाजी। कुछ दिन बाद मेरी नियुक्ति कृष्णपुर नाम के एक छोटे-से गांव की डिस्पेंसरी में हो गई। जब मैं कृष्णपुर जाने लगा तो मेरे दादाजी ने मुझे सीने से लगाकर कहा, 'बेटे, सदा याद रखना कि तुम्हारा काम रोगियों की सेवा करना है। कभी किसी दुखी और जरूरतमंद को निराश मत लौटाना। अपने आराम और सुख-सुविधा से अधिक ध्यान अपने कर्तव्य पर देना।'

'मैं कृष्णपुर आ गया। कृष्णपुर छोटा-सा और पिछड़ा हुआ गांव था। वहां डिस्पेंसरी के नाम पर दो कमरे थे, जिनमें थोड़ा-बहुत सामान था। एक सतरह-अठारह साल का लड़का बृजमोहन झाड़-पोंछ का काम करता था। वह सुबह-सुबह आकर कमरे को झाड़, मेज साफ करता, पानी का घड़ा भरता और अलमारियों का सामान ठीक ढंग से लगाता। वह बहुत मेहनती था, लेकिन बातूनी भी बहुत था। वह जितनी देर रहता, कुछ-न-कुछ बोलता ही रहता। उसके पास गांव-भर की खबरें रहतीं। हर घर की बात वह जानता था और मुझे सुनाता रहता था। गांव में लोग पढ़े-लिखे तो थे नहीं, इसलिए बहुत-से मामलों में वे अंधविश्वासी भी थे। बृजमोहन उन्हीं अंधविश्वासों की कहानियां सुनाता रहता था। झाड़-फूंक, टोना-टोटका, भूत-प्रेत उसके प्रिय विषय थे। जब भी वह इस तरह की कोई बात शुरू करता, मैं हंसकर उसे चुप करा देता, पर वह कहां मानता! कुछ ही देर में वह फिर शुरू हो जाता। कई बार तो वह झुंझलाकर अपनी बड़ी-बड़ी आंखें फैलाकर कहता, 'डॉक्टर साहब, आप शहर से आए हैं, इसलिए मेरी बातों का मजाक उड़ाते हैं। एक दिन जरूर मैं आपको भूत दिखाऊंगा।'

'अच्छा! लेकिन क्या तू किसी भूत से कम है जो मुझे भूत दिखाएगा? मुझे तो तुझे रोज ही देखना पड़ता है!' मैं कहता।

'बृजमोहन मेरी बात सुन खिसिया जाता।'

'एक दिन सुबह ही सुबह वह दौड़ता हुआ आया। कहने लगा, 'डॉक्टर साहब, कल रात आम के बाग के पास गंगू नाई ने भूत देखा।' मैं कुछ पढ़ रहा था। मैंने गुस्से से कहा, 'बृजमोहन, तुम बहुत बोलते हो।'

'वह घबरा गया, बोला, 'डॉक्टर साहब, आप रोज उसी रास्ते से घर आते-जाते हैं। कई बार रात भी हो जाती है। मैं तो इसीलिए आपको बता रहा हूं। मैं सच कह रहा हूं साहब।'

'मुझे उस पर हंसी आ गई। मैंने कहा कि 'अच्छा तो बता, गंगू नाई से भूत ने क्या कहा?' तो उसने बताया, 'कहा तो कुछ भी नहीं! बस, अपने पास बुलाता रहा। आप भी वहां कभी किसी के बुलाने पर रुकिएगा नहीं!'

'अच्छा बृजमोहन, मैंने तुम्हारी बात सुन ली। अब जरा देर तुम चुप हो जाओ या फिर थोड़ा घूम-फिर आओ, मैं कुछ काम कर लूं।' मैंने उसे डांटा।'

डॉक्टर दादा कहते-कहते कुछ देर रुक गए। उन्होंने मेरी ओर देखा। फिर छत की ओर देखते हुए बोले, 'बेटा, डर बहुत अजीब चीज है। निडर से निडर और हिम्मत वाले आदमी के दिल में भी यह कब घुस जाता है, पता ही नहीं चलता। जिस तरह फूलों की खुशबू बंद खिड़की-दरवाजों को पारकर घुस आती है और कमरे में फैल जाती है न, इसी तरह डर भी न चाहते हुए भी आदमी के मन में बैठ जाता है। और इस बात का पता तब लगता है, जब कोई आपदा सामने आ जाती है।

'बृजमोहन की इस बात को मैं कब भूल गया, याद नहीं। मैं रोज उसी रास्ते से आता-जाता रहा। मुझे न तो कभी भूत दिखे, न उनका ध्यान ही कभी आया।

एक रोज रोगियों को देखते-देखते मुझे बहुत देर हो गई। उस रोज आसमान में बादल घिरे थे, जिसकी वजह से अंधेरा और ज्यादा हो गया। काम निपटाकर जब मैं डिस्पेंसरी से बाहर निकला तो बादल गरज रहे थे। बारिश किसी भी समय शुरू हो सकती थी। इसलिए मैंने तेज कदमों से चलना शुरू किया। बाजार में दुकानें बंद हो चुकी थीं। बारिश के डर से लोग भी अपने घरों में चले गए थे। मैं अभी बाजार में ही था कि बारिश शुरू हो गई। बादल गरज रहे थे। बिजली भी कड़क-कड़ककर चमक रही थी। बारिश तेज हो गई और इतनी ताबड़तोड़ कि कुछ दिखाई ही न दे। चारों ओर सुनसान था। फिर भी मैं तेज-तेज कदमों से घर की ओर दौड़ा चला जा रहा था। आम के बाग के पास वाली सड़क पर पहुंचा ही था कि मुझे लगा कोई मेरे पीछे-पीछे आ रहा है। मैंने मुड़कर देखा। कुछ ही दूरी पर एक औरत चली आ रही थी। वह आवाज लगा रही थी, 'डॉक्टर साहब, रुक जाइए!' मैंने उसकी पुकार पर कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि अपनी चाल और तेज कर ली। तभी आवाज फिर आई, 'डॉक्टर साहब, ऐसे मत जाइए, रुकिए तो सही!'

'वह औरत अपने दोनों हाथ उठाकर मुझे पुकार रही थी। मुझे बृजमोहन की बात याद आ गई। मुझे लगा कि कोई भूतनी मेरा पीछा कर रही है। मैं डर से कांप उठा। उसके ऊंचे स्वर में मुझे पुकारने की दर्दभरी आवाज, बरसात के शोर के साथ बड़ी भयानक लग रही थी। अब मैंने पूरी ताकत लगाकर दौड़ना शुरू कर दिया। वह आवाज मुझे पुकारती ही रही, 'डॉक्टर साहब, हमें छोड़कर मत जाइए! रुकिए तो सही!'

कुछ देर में दौड़ते-दौड़ते मैं उससे काफी दूर निकल आया। कांपते हाथों से मैंने घर का ताला खोला और फौरन दरवाजा अंदर से बंद कर लिया। डर के मारे गला सूख गया था। मैंने पानी पीया और पलंग पर गिर पड़ा। पता नहीं कब मेरी आंख लग गई।'

'फिर....फिर क्या हुआ, दादाजी?'

'सुबह जब मेरी आंख खुली तो सब-कुछ ठीक-ठाक लगा। मैं रोज की तरह तैयार होकर डिस्पेंसरी के लिए निकल पड़ा। जब मैं आम के बाग की सड़क पर पहुंचा तो मुझे रात की बात याद हो गई। ऐसा लगा मानो मैंने कोई सपना देखा हो।

'तभी मेरी नजर थोड़ी दूर पर गई, जहां बहुत-से लोग खड़े थे। मैं भी वहां पहुंचकर भीड़ में घुस गया। मैंने लोगों से पूछा कि क्या बात हो गई? वहां खड़े एक आदमी ने बताया, 'अरे डॉक्टर साहब, क्या बताएं। कल रात शीलाबाई की लड़की मर गई। बेचारी को बहुत तेज बुखार था।'

'शीलाबाई भीड़ से घिरी अपना पल्लू मुंह पर रखे रो रही थी। पास में जमीन पर उसकी लड़की की लाश रखी हुई थी, जिस पर सफेद कपड़ा डाल रखा था।

'तभी शीलाबाई की नजर मुझ पर पड़ी। वह जोर से रोती हुई बोली, 'अरे डॉक्टर साहब! अब आए हो, जब मेरी बिटिया नहीं रही? मैं रात को तुम्हें कितना पुकारती रही, पर तुम नहीं रुके! अरे निष्ठुर आदमी, तुम्हें कितने पैसे चाहिए थे? मैं दे देती, कैसे भी दे देती। तुम रुककर मेरी बच्ची को देख लेते और दवाई दे देते तो मेरी बच्ची बच जाती!'

'शीलाबाई की बात सुनकर मुझे रात की बात याद आ गई। तो रात को कोई भूतनी नहीं, शीलाबाई मुझे पुकार रही थी। मुझे अपनी गलती का एहसास हुआ। शीलाबाई का विलाप मुझसे देखा नहीं जा रहा था। मेरी आंखों में अपने दादाजी का चेहरा घूमने लगा। मुझे लगा, जैसे वे कह रहे हैं, 'सदानंद, तुम इतने छोटे-से इम्तहान में फेल हो गए! तुमने अपने कर्तव्य को भुला दिया। तुमने लोगों के प्यार का, विश्वास का अपमान किया। तुमने मेरा सिर हमेशा के लिए झुका दिया और अपना भी।' इसके बाद मुझसे कृष्णपुर में रहा नहीं गया और मैंने कृष्णपुर छोड़ दिया।'

'फिर आपने क्या किया? क्या आप अपने घर जाकर काम करने लगे?' मैंने पूछा।

'नहीं बेटे, घर जाकर भी मैं काम नहीं कर सका। मेरा मन बहुत बेचैन रहने लगा। हर समय शीलाबाई का विलाप सुनाई देता। मुझे अपने-आप से नफरत होती कि मैंने एक दुखी औरत की आवाज को नहीं सुना,

लोगों की सुनी-सुनाई बातों से उनके अंधविश्वास में पड़ गया। घर जाकर मैंने अपना पेशा यानी डॉक्टरी करना ही छोड़ दिया।

'फिर मैंने तीन वर्ष तक फ्रांसीसी भाषा सीखी। मेरे स्कूल के अध्यापक ने बड़ी मेहनत से मुझे इस भाषा का ज्ञान कराया। एक दिन पढ़ाते-पढ़ाते उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने अपना डॉक्टरी का पेशा क्यों छोड़ दिया? मैंने उन्हें पूरी घटना सुना दी। अपने मन के भय और अपराध की बात भी मैंने बताई। गुरुजी ने मुझे समझाते हुए कहा, 'मेरे बेटे, गलती किससे नहीं होती? लेकिन अपना काम छोड़ देने से वह ठीक तो हो नहीं जाएगी, बल्कि तुम्हारे डॉक्टरी छोड़ने से उन लोगों को सेवा नहीं मिल पाएगी जिन्हें तुम्हारी सेवाओं की जरूरत है। इसलिए तुम डॉक्टरी फिर से शुरू करो, गरीबों की मदद करो। जिनको तुम्हारी जरूरत है, उनकी सेवा करो। पैसे की तरफ ध्यान मत दो। पैसा ही सब-कुछ नहीं है। पैसे से सब-कुछ नहीं मिल जाता।'

'उस दिन से मैंने उन गुरुजी की बात गांठ बांध ली। यहां आकर यह छोटा-सा बंगला मैंने बनाया और मानव-सेवा का व्रत लिया। इसीलिए मैं अपने किसी भी रोगी से पैसा नहीं लेता।'

'लेकिन दादाजी, इन दवाइयों के लिए आप पैसा कहां से लाते हैं?'

'इन दवाइयों को खरीदने के लिए मैं मेडिकल पत्रिकाओं में लेख लिखकर पैसे कमाता हूं। फिर एक स्कूल में सप्ताह में तीन दिन फ्रांसीसी भाषा पढ़ाता हूं।'

इतना कहकर डॉक्टर दादा चुप हो गए। कमरे में खामोशी छा गई। मैंने खिड़की से बाहर देखा, सूरज डूब रहा था। अपनी कुर्सी पीछे खिसकाते हुए मैंने कहा, 'अच्छा दादाजी, मैं अब चलता हूं।'

डॉक्टर दादा, जो अभी तक दीवार की तरफ देख रहे थे, चौंककर बोले, 'ओह! हां बेटे, जाओ शाम हो गई है!'

मैं अभी दरवाजे तक ही गया था कि डॉक्टर दादा ने पूछा, 'बेटे, तुम अंधेरे या भूत-प्रेत से डरते तो नहीं हो?'

मैंने अपना सिर दाएं से बाएं हिलाया और कहा, 'नहीं, दादाजी! मैं तो केवल एक ही चीज से डरता हूं, वह है मां की पिटाई।'

दादाजी जोर से हंस पड़े और मैं घर की ओर भाग निकला। ❖

शाकाहार से सधेगा पर्यावरण पृष्ठ 33 का शेष

से अध्यात्म और धर्म के प्रति उसकी सहज भावना जाग्रत होने लगती है। शाकाहार के बढ़ते निरापद प्रभाव के फलस्वरूप विश्व के 73 देश विश्व शाकाहार कांग्रेस के सदस्य बन चुके हैं। इस अंतरराष्ट्रीय संगठन द्वारा शाकाहार की वैज्ञानिकता को स्वीकार कर कैंसर और हृदय रोग जैसे असाध्य रोगों के निदान में इसकी सर्वमान्यता पर सहमति व्यक्त की गई है।

'विश्व शाकाहार कांग्रेस' ने अपने वार्षिक प्रतिवेदन (1995) में शाकाहार के उज्ज्वल भविष्य पर आशातीत विश्वास प्रकट करते हुए पारिस्थितिकी और पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने में इसकी सार्वभौमिकता की ओर संकेत किया है। 'आल इंडिया एनीमल वैलफेयर एसोसिएशन' ने जीव-जंतुओं के मौलिक अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में शाकाहार को एक नया आयाम दिए जाने की बात दुहराई है और देश के पर्यावरण की रक्षा के लिए जागरूकता का निर्माण करने का संकल्प लिया है।

इसी प्रकार इंग्लैंड की वेजीटेरियन सोसायटी (1847) ने 'वेजीटेरियन' शब्द का व्यापक अर्थ प्रस्तुत किया है जो संपूर्ण, निर्दोष, स्वस्थ, ताजा और जीवंत है। शाकाहार निर्दोष और संपूर्ण आहार है जो व्यक्ति को स्वस्थ, ताजा और जीवंत बनाए रखता है।

निष्कर्षतः शाकाहार को अहिंसा की मूल भावना पर केंद्रित अहिंसक जीवन-शैली अथवा जीवन-पद्धति माना जा सकता है। जैन धर्म का तो यह प्राण-तत्त्व है। जैन धर्म का वैज्ञानिक चिंतन और परिलब्धियां पर्यावरणीय सहभागिता के साथ जुड़ी हैं। यदि राष्ट्रीय और सामाजिक कल्याण की दिशा में जैन धर्म के सिद्धांतों की निष्पक्ष और विवेकपूर्ण समीक्षा की जाए तो इसे विश्वशांति का अग्रदूत कह सकते हैं। ❖

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, जून, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

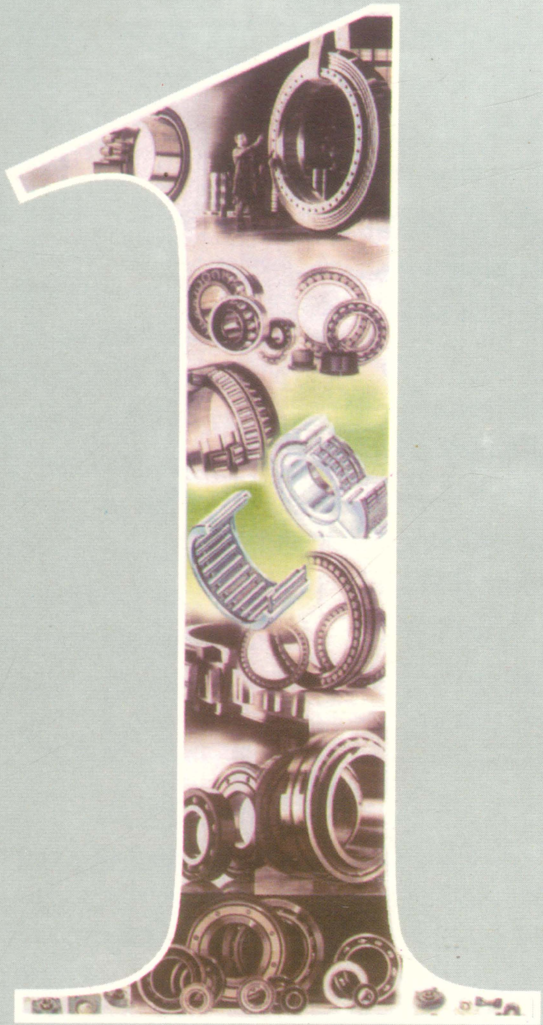

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.
407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।